...मर्शदाता :
...न, एडवोकेट
प्रतिनिधि :
...कुमार गुप्ता

बिजनौर हलचल

उपक...
बी–21,...
बिजन...

बुधवार, ४ जुलाई, १९८४ ई०

...प्र० के पर्वतीय विकास राज्यमंत्री द्वारा त्या...

...यमंत्री से बातचीत के बाद समाधान

...लाई ...
...विकास राज्य
...हन सिंह नेगी के
...ने उत्तर प्रदेश
...सत्तारूढ़ दल में
...सा तूफान अब
...या प्रतीत होता
...र यहां

को बताया कि वस्तुतः मैंने मुख्य मंत्री को अपना त्यागपत्र 5 जून को ही दे दिया था। उनका इरादा इस्तीफे का नहीं था मगर वह कुछ बातें मुख्यमंत्री की जानकारी में लाना चाहते थे।

उन्होंने कहा कि दुधवा के लिये रवाना होने से पूर्व मुख्य ...

है कि मैंने मुख्य मंत्री का विश्वास खो दिया है अगर मेरी धारणा सही है तो मैं मंत्रीमंडल से अपना त्यागपत्र देता हूं। इसका यह अर्थ नहीं था कि मेरा मंत्रीमंडल से त्यागपत्र देने का इरादा था।

श्री नेगी ने बताया कि उन्होंने यह देखा कि उनके ... मुख्यमंत्री के पास भेजी ...

रोटरी क्लब द्वारा

कवि हुक्का सम्...

चन्दौसी (निस.)। गत दिनों रोटरी क्लब चन्दौसी द्वारा स्थानीय रोटरी नेत्र चिकित्सालय के प्रांगण में ... आयो- ... में श्री ... वशिष्ठ ... आम- ...

संध्या में ... हरीश उत्त... लाल जी ... किया। श्री... ने श्रोताओं... रचनायें सु... रोटरी क...

युग-पुरुष

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'



युग-पुरुष

राजपाल

मूल्य : पन्द्रह रुपये(15.00)

प्रथम संस्करण 1983,
YUG-PURUSH (Reminiscences)
by Rameshwar Shukla 'Anchal'

युग-पुरुष

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

8

क्रम

1

आस्था की गंगोत्री की तलाश

आज से पचास साल पहले की बात है। लखनऊ में सब्ज़ीमंडी के पास (अमीनाबाद के आगे) निराला एक मुसलमान खोमचेवाले से दही की पकौड़ी ले कर खा रहे थे। पास ही खड़े एक मुसलमान भाई उन्हें गौर से देख रहे थे। श्वेत धोती-कुर्ते में निराला का यौवनोद्दीप्त स्वरूप और तराशी सुडौल देवमूर्ति जैसी मुखाकृति उन्हें हिन्दू बताए दे रही थी। जगह-जगह 'हिन्दू पानी', 'मुसलमान पानी' की आवाज़ों से भरे उस सांप्रदायिक तनाव के युग में, बीच बाज़ार खुलेआम यह देख कर वह सज्जन पूछ ही बैठे, "आप मुसलमान हैं ?" निराला ने निर्विकार भाव से कहा, "जी नहीं, मुस्लिम-ईमान हूं।"

पकौड़ी के पैसे देकर निराला पास खड़े मुसलमान शरबतवाले से शक्कर का सादा, ठंडा शरबत लेकर पीने लगे। सभी आने-जानेवाले उन पर गहरी दृष्टि डाल निकल जाते थे।

कलकत्ता में इन्हीं निराला ने, मुंशी अजमेरी (कवि-गायक), जो मुसलमान होते हुए भी वैष्णव की तरह रहते थे, के आने की बात सुनकर बड़ी मेहनत से पकाया हुआ, अपने खाने से बचा गोश्त अपने आवास-कक्ष से बगल के कमरे में हटाकर पूरे निरामिष भागवत भाव से उनकी मेहमानदारी की थी।

घटनाएं बहुत छोटी हैं, पर चिरदुखदर्दी निराला के रोम-रोम में रमी मानवधर्मी अंतश्चेतना की झलक देती हैं। मन की शुभ्रता की खिड़की इन्हीं छोटी बातों में खुलती है। आकाश पर धूप के टुकड़ों जैसी बिखरी निराला के जीवन की ऐसी न जाने कितनी बातें हैं, जो समाज की परम्पराओं, बंधी-बंधाई मर्यादाओं, कठिनाइयों—यहां तक कि बेधक से बेधक लोकनिंदा को ठुकरा कर केवल अपने भीतर के सत्य को जीने के उनके संकल्प की कौंध दिखा जाती थीं। यही सत्य उनके मन के खाते में

कोई क्षुद्रता नहीं आने देता था; उसे निर्मल रखता था, भले ही उनका जीवन एक मर्मांतक, यों दुनियादारी की दृष्टि में एक असफल, चोट बन कर रह गया था।

लंबी बीमारी में सपनीली स्निग्ध हंसी हंसने वाली निराला की आंखों का उजड़ा-उजड़ा खोयापन बारहमासी बन गया था। स्वाधीन देश के भरे-पूरे जंगल में जैसे वह अपने को खोज ही न पाते थे। जानी-अनजानी व्याधियों के बीच डेरा डाले उनकी छटपटाहटें उन्हें अभावों के तीखे वर्तमान के कराल जबड़ों के बीच झपकी भी न लेने देती थीं। मन के सत्य को स्वाभिमान के साथ अंत तक जीते जाने का उनका उद्वेलित विद्रोह उन्हें अपने तप में तपाए जा रहा था। उनकी अंतर्लक्ष्मी, उनकी अंतर्सरस्वती, उनकी जीवन-विजयिनी लग्न की सौदामिनी आस्था उन्हें झेले जा रही थी। पर उनकी उदासीन, बेचैन, खोयी-खोयी निस्पृह आंखों का शून्य फैलाव ज्यों का त्यों था, जैसे उनके 'आतम-ज्ञान' का यही चरम ठहराव हो।

निराला को हमेशा लगता था कि उनका 'मैं' उनके लिए बहुत छोटा है। कोई बड़ा 'इदम्' उनके भीतर से बाहर निकलने के लिए फड़फड़ाता रहता था। दुख के भारी भीगे कोहरे में धंसे उनके एकाकी, नितांत एकाकी, मन में बाहर के सीमाहीन जगत् की असंपृक्तता उमड़ी चली आती थी। न जाने कैसा क्या कुछ था, जो उनके भीतर से चुनौतीभरे हठ के साथ टूट-टूट कर बाहर आ जाता था। साहित्य में यह चुनौती उनके भीतर सतत प्रवाहित ऐंद्रिय और अतींद्रिय जगत् को ज्यों का त्यों उतारती थी, तो दूसरी ओर समाज में एक अखंड निर्भीकता जगाती थी। उनकी दार्शनिकता जीवन और मृत्यु की प्रश्नता को ले कर नहीं थी। वह आत्मा और ईमान की भुवन-व्यापिनी अस्मिता को उजागर करती चलती थी।

निराला को दिवंगत हुए तेईस वर्ष होने वाले हैं। इन बीस वर्षों ने साहित्य, दर्शन, कला के क्षेत्र में विरोधी विचारधाराओं और भावांदोलनों के अनेक प्रहार सहे हैं। पुरानी मान्यताएं जिस द्रुतगति से नष्ट हुई हैं, उस गति से नयी विचारणाएं तैयार नहीं हो पायीं। निराला के जीवनकाल में ही, उनके द्वारा अपना मृत्युलेख तैयार किये जाने से पहले ही, समाज और साहित्य में यह प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। निराला की बाद की

कविताएं स्वयं अपने साथ उनके चिंताकुल वार्तालाप जैसी लगती हैं, जिनके शब्द रह-रह कर अजानी खामोश सुबकियों-से कांप-कांप उठते हैं—जैसे उनकी युद्धोत्तर, स्वातंत्र्योत्तर चेतना का गला रुंधा जा रहा हो। निराला अपने जीवन में अपने को इतना बाहरी, कुछ-कुछ अजनबी अनुभव कर चले थे कि आगत मृत्यु की अंधेरी घाटियों में वह अपने को और ज़ोर से पकड़ लेना चाहते रहे होंगे।

जब पहली बार निराला को मैंने लखनऊ में देखा, तब मेरी आयु 13-14 वर्ष की थी। मुझे ऐसा लगा था, जैसे पहाड़ की चोटी पर कुछ लिख दिया गया हो, या हवा कोई स्वप्नभरा गीत उड़ा कर ले आयी हो। बात करते-करते एक भेदभरी शून्यता, एक घनीभूत आत्मविसंज्ञता उनकी आंखों में फैल जाती थी। यह उचाटपन क्यों था, कैसा था और उनकी हंसी के ठहाकों की छलकन में कहां चला जाता था? आम की फांक जैसी बड़ी-बड़ी आंखों से वह ऐसा क्या कुछ देखते रहते थे, जो हमें नहीं दिखता था? इसके थोड़े समय बाद ही, जब मैं उनके निकटतम स्नेह का भागी बना, तब भी उनका यही रह-रह कर शून्य में खो जाना देखा। कविता और कला के संबंध में उनका मौलिक विवेचन चल रहा हो या हास्य-व्यंग्य का दौर, जिसमें उनकी सूझें, उनकी उक्तियां सुन कर सभी को बड़ा मज़ा आ रहा हो। पर बातों के बीच एकाएक अपने में डूब जाने की, आंखों में, मुखमंडल पर उसी रहस्यमयी शून्यता के आ कर भर-भर जाने की बात भी बराबर चलती रहती थी। रह-रह कर किसी भव्य गोपन के गहरे गर्त में वह डूब जाते थे। मुझे बराबर लगता था, कोई अलौकिक दिव्य कहलाने वाला प्रकाश है, जो उनकी नज़र के आसपास आता-जाता था। वह रह-रह कर उसी रोशनी में ओझल होते रहते थे।

शायद इसीलिए उनकी अनासक्त निर्विकारता बिलकुल उन्हीं की थी। आलोचकों की कटुता, उपहासवृत्ति, उनकी कृतियों को सहानुभूति और मनोयोग के साथ पढ़े बिना उन पर फतवा दे डालने की प्रवृत्ति, उनके विरुद्ध संगठित प्रचार करने की आदत, उनके भावप्रवण कवि हृदय पर चोट पहुंचाती थी। अकसर आपसी बातचीत, साहित्य-चर्चा में वह उत्तेजित भी हो उठते थे। पर यह सब थोड़ी देर का होता था। साहित्यिकों के

साथ उग्र से उग्र विवाद, कड़ा से कड़ा विरोध और गरमागरमी चलती थी, पर कुछ मिनटों बाद फिर वही शांतचित्त प्रसन्नता, परदुखकातर विवेक, मन की दर्पमयी दृढ़ता। कोई शिकायत नहीं, कीना नहीं, द्वेष नहीं। मन क्या था, गंगा के चौड़े पाट का बहता पानी, जो केवल बहना जानता था—बहता ही जाता था। उनके प्राण किसी दिव्य स्वप्नलोक की मधुर झंकार को केवल लहराना जानते थे, और जानते थे अपनी सहज समत्वावस्था का रसमय उन्मेष। मुझे लगता था, शांति के अशरीरी, आकाशी सौंदर्य के साथ वह एकाकार हो गये थे।

आसक्तियां-विरक्तियां सबके जीवन में होती हैं। पर वे मन की उदात्त सात्विक भावना में डूब जायें, सब अपने हो जायें, कोई पराया न रहे, मानव मन की इससे बड़ी परिणति क्या हो सकती है? संसार की सभी जानी-अनजानी दिशाओं के प्रवाह हृदय के लिए खुल पड़ें, सभी पर निष्कपट स्नेह झरने लगे, यही कवि के मन की मुक्ति है। ऐसा ही मुक्तमना कवि जगत् के मिथ्यात्व के भीतर अविनाश की ज्योति-शिखा, भोग के भीतर अभोग की लहक, भेद के भीतर अभेद की अमरता और विभक्त के भीतर अविभक्त की पुण्यायन छवि देखता है। 'शेली' के शब्दों में कहें, तो निराला के कलाकार हाथों ने जीवन की अस्थिरता का उपहास किया है, उनकी प्रबुद्ध चेतना ने आभिजात्य और बड़प्पन के गर्व को तोड़ा है। निराला का 'मुस्लिम-ईमान' राजा और रंक, संपन्न और विपन्न, ब्राह्मण और शूद्र, हिंदू और मुसलमान में कोई अंतर नहीं देखता था। वह 'मये-वह्‌दत' में डूबा रहता था।

निराला का सिर भी झुकता था, देर तक झुका रह जाता था, पर वहीं, जहां उसे झुकना चाहिए, जहां साहित्य का साधक अवदान है, ज्ञान, चरित्र और साधना का प्रकाश है, जहां साधु अंतःकरण की परार्थ पारदर्शिता है। समाज जिन्हें बड़ा मानता है, ऊंचा कह कर आदर, मान, गौरव देता है, उनको निकट से जान कर अकसर उनसे घृणा हो जाती है। बनावट और आत्मछलना पर ही उनके जीवन की भित्ति होती है। निराला का जीवन वेदांती संतत्व का सदेह उदाहरण था। व्यवस्था के तड़क-भड़क भरे हाल का 'सांस्कृतिक फर्नीचर' बनने के लिए अकुलाते

कवि-लेखकों का बौनापन निराला की देवदारुवत् ऊंचाई में अधिकाधिक रेखांकित हो जाता था। आत्मशिखा से अभिशप्त निराला का सूफी मन 'रामकृष्ण मिशन' के सर्वस्वत्यागी, सेवाव्रत स्वामियों के आत्मप्रसूत अर्पण की दीप्ति पर रीझता रहता था। आत्मा के किसी छोर पर दिखाई दे जाने वाले मानवीय सौंदर्य पर से निराला की आंखें हटाए न हटती थीं। पर धर्मध्वजाधारी महंतों, भूस्वामियों और रूढ़ आचारिक, धार्मिक नैतिकता के पहरेदारों से निराला को घृणा थी।

निराला की अमृतमयी आस्था का उत्स-बिंदु कहां था? वह आस्था, जो पीड़ा, गरीबी, क्रूरता, दुख के बावजूद, यहां तक कि अपना मृत्यु-लेख पूरा हो जाने पर भी, अपनी आभा को अक्षुण्ण रखे थी। न जाने कौन-सा अमरत्व कहां से फूट-फूट कर इस आस्था से जुड़ता रहता था। उनकी आंखों से निरंतर रह-रह कर झरता यह खोयापन जिस आस्था का फैलाव था, उसका कोई उत्स-बिंदु भी तो होगा? इस प्रकाश का 'फोकस' कहां था और कहां थी वह गंगोत्री, जहां से अनासक्त परिपूर्ति का लहरा आ-आ कर उनकी प्रेरणाओं पर आकाश की तरह छा जाता था।

निराला को न जाने कितने दृष्टिकोणों से देखा गया। लोगों ने तरह-तरह से उन्हें गलत-सही समझने की चेष्टा की। उन्हें आधा मसीहा और आधा हैवान बना दिया गया, क्योंकि अपनी आंतरिक शुचिता को वह अपराध की नकाब पहन लेने देते थे। जनमानस में बद्धमूल मर्यादाओं को ठुकराते रह कर वह अपने को अपराधी-रूप में प्रकट हो लेने देते थे। पर आचार्य क्षितिमोहन सेन जैसे संतत्व-पारखी उन्हें अंदर और बाहर से संत मानते रहे। निराला की जीवन-साधना को वह योग-सूत्र स्थापित करने वाले (गीता में वर्णित) योगी की साधना कहते रहे।

पिछले बीस वर्षों की रेती पर चलता हुआ मैं निराला की इसी संपोषक आस्था का उत्स-बिंदु तलाश रहा हूं। सोचता था, कुछ पकड़ पाऊं तभी उनकी अटपटी याद में कुछ लिखूं। पर अभी तक कुछ सूझ नहीं पाया। घूम-फिर कर उनकी उड़ान भरती चितवन की वही खोखली शून्यता मेरे सामने चमक जाती है। वह शून्यता जैसे प्रत्येक विश्वास की ओट में यातना और प्रत्येक मुस्कराहट की ओट में अंधकार पाती थी। निराला

की जीवनमयी, चिर-अनागरिक, चिर-व्रात्य आस्था का उत्स-बिंदु क्या मुझ जैसे संशयदग्ध से ओझल ही रहेगा ? काल की अथाह खामोश गंभीर लहरें आखिर मुझे कितने दिन और बहने देंगी ? तो क्या यह तलाश चलती ही जाएगी ? एक अटका हुआ दर्द है, जो रिसता रहता है। मेरी आयु का प्रत्येक बचा दिन, प्रत्येक बची रात इसी तरह सरसराती गुज़र जायेगी ? उसे रोक कर कुछ कहने-सुनने में असमर्थ मैं उसके भागने की आवाज़ सुना करूंगा ? क्या यह तलाश तब तक चलेगी, जब तक 'शॉ' के नाटकीय पात्र सेंट जोन की पुकार पूरी नहीं होती और यह सुंदर सृष्टि संतों का स्वागत करने योग्य नहीं हो जाती ?

2

हिमावृत अग्निसेतु

1928 में प्रकाशन के कुछ समय बाद ही ज़ब्त हो जाने वाला 'चांद' का फांसी अंक युवकों और किशोरों के गले का हार बन गया था। उसके अंत में 'विप्लव-यज्ञ की आहुतियां' शीर्षक से एक लम्बी परिचयमाला थी, जिसमें देश की बलिवेदी पर शीश चढ़ाने वाले लगभग पचास तरुणों की रोमांचक गाथाएं थीं। कलकत्ता के अत्याचारी पुलिस कमिश्नर (सर) टेगार्ट के धोखे में डे नामक अंग्रेज़ की हत्या के जुर्म में फांसी पाने वाले 18 वर्षीय हुतात्मा गोपीमोहन साहा की जीवनी के आरम्भ में कवि का नामोल्लेख किए बिना दो पंक्तियां उद्धृत थीं :

'तरुण तपस्वी ! आ तेरा कुटिया में नव स्वागत होगा,
दोषी तेरे चरणों पर फिर मेरा मस्तक नत होगा।'

मैं बराबर इन पंक्तियों को गुनगुनाता रहता था। एक दिन मेरे पिता जी ने सुन लिया, तो पूछ बैठे, "जानते हो किसकी पंक्तियां हैं?" मैं क्या बताता, चुप रह गया। उन्होंने कहा, " 'एक भारतीय आत्मा' का नाम सुना है—माखनलाल चतुर्वेदी का ? उन्हीं की हैं।" मैंने कहा, " 'कविता कौमुदी' और 'साहित्य प्रभाकर' (संकलनकर्ता कलकत्ता के सुप्रसिद्ध पत्रकार रामशंकर त्रिपाठी) में उनकी कविताएं पढ़ी हैं, पर यह कविता तो उनमें नहीं है।" पिता जी ने 6 पंक्तियों की पूरी कविता सुना कर कहा, "यह उन्हीं की कविता है। वह 'कर्मवीर' के संपादक हैं।"

यहीं से माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' के पूर्वपरिचित नाम के साथ गहरा श्रद्धा-भाव कुछ ऐसा जुड़ा कि वयःसंधि के द्वार पर दस्तक देती मेरी आस्था का अंश बन गया। मैं सोचता था, जो अंश इतना प्रेरक और ज्वलंत है वह अंशी कैसा होगा ?

ढूंढ़-ढूंढ़ कर इधर-उधर उद्धृत और संकलित चतुर्वेदी जी की कविताएं पढ़ता रहा, क्योंकि उनका कोई कविता संग्रह न था. अगले वर्ष पटना के

मासिक 'युवक' में उनकी कविता 'मरण त्योहार' पढ़ी, जिसमें संपूर्ण राष्ट्र को 'जंबुकेश' कह कर उसकी पराजित दासवृत्ति के लिए कवि ने तीव्र भर्त्सना की है। देश के यौवन, आत्मोत्सर्ग, विद्रोह और इनलाब के प्रतिनिधि—सैकड़ों क्रांतिकारी—जेलों में राजबंदियों के साथ मानवोचित व्यवहार की मांग को ले कर अखंड अनशन कर रहे थे। इसी महान यज्ञ में अमर शहीद यतींद्रनाथ दास का हड़कंपी बलिदान हुआ था। यतींद्र 64 दिनों तक जीवन-मरण के फंदे पर झूला किए। चतुर्वेदी जी ने इन्हीं ऐतिहासिक क्षणों में मानवता का यह मर्सिया लिखा था। आज़ादी के सूरज की किरणों की आशा लिए दमन की रात में तिल-तिल कर गलते मोम-दीपों (अनशनकारियों) का अदम्य आत्मविश्वास देश में अभय की अविनाशी सांस फूंक रहा था। मैं उन दिनों लखनऊ में मैट्रिक का छात्र था, पर अभी कल की सी बात लगती है। जैसे आकाश से आग बरस रही थी—-सारा वायुमंडल फुंका जा रहा था।

इसके तीन वर्ष बाद शांतिप्रिय द्विवेदी द्वारा संपादित और मेरी साहित्यिक दृष्टि में उस युग का श्रेष्ठतम काव्य-संकलन 'परिचय' पढ़ने को मिला, जिसमें चतुर्वेदी जी की कुछ मादक मधुर कविताएं थीं। मुझे लगा, ये कविताएं पंत और महादेवी से बिलकुल अलग हैं। हाथीदांत की मीनारों में रूप-रस की पुष्प-शय्या बिछाने वाला भक्ति-दर्शन उनमें नहीं है। उनमें पराधीनता के शोषण में छटपटाते जीवित-जाग्रत् राष्ट्र की अर्चना है। कवि प्रेरणा और भावना के सभी उपकरणों को ले कर कविता की कांटों-भरी राह से वहीं जाता है। इनमें तो एक ऐसे प्राणवान अशांत यौवन की उन्मादना है, जिसकी दिग्दिगंत तक फैली सारी कल्पना शक्ति राष्ट्रप्रेम की अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं है।

मुझे लगने लगा था कि देश की स्वातंत्र्योज्ज्वल राष्ट्रीयता चतुर्वेदी जी के लिए कोई सैद्धांतिक वस्तु न थी, जिसमें तर्क, आंकड़े और राजनीति की सुचिंतित योजनाएं रहा करती हैं। किसी प्रकार का बौद्धिक प्रयत्नवाद उसके पीछे न था। इसलिए उसमें आत्मसमर्पण, कष्ट-सहन और त्याग की इतनी प्रखर ज्योति थी। चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीयता एक अर्पित, प्रगाढ़ प्रेममय पुजारी के पूजा-गीतों की भावोद्रेकभरी स्वर-लहरी थी, जिसमें

कवि की आत्मा की आरती की सारी बत्तियां एकसाथ जल उठती थीं। राष्ट्रमंदिर के इस विद्रोही पुरोहित के योद्धा मन की विह्वल निष्ठा जीवन की नर्मदा बनकर आराध्य के चरणों पर पछाड़ें खा-खाकर मंडराती है। उसकी प्रत्येक लहराती थपेड़ के भीतर आत्मोत्सर्ग का दर्प और गौरव जगाने वाली दहक है, जैसे पानी में आग लगी हो। यह जलन परिणाम बन कर वातावरण में व्याप्त हो जाती है—भावना के नये 'ईथर' का निर्माण करती है।

चतुर्वेदी जी मेरे रहते (1925-37) लखनऊ कभी नहीं आए। पर इलाहाबाद आने के एक वर्ष बाद ही (1938) मुझे उन्हें पहली बार देखने और प्यार के बर्फ ढके उस ज्वलनशील हृदय में गहरे पैठने का अवसर मिला, जो उनकी समस्त अभिव्यक्तियों के पीछे बोलता था, उनकी पंक्ति-पंक्ति में दासता के बेचैन बोध की और उससे जूझने के आत्मार्पित संकल्प की लहक भर देता था। संकोची स्वभाव का होने के कारण कभी उनसे पत्र-व्यवहार मैंने नहीं किया था। यद्यपि 1920 से चले आ रहे पिताजी और और उनके बीच बंधुत्व-भरे निकट संबंध के कारण साधिकार ऐसा कर सकता था। पर अपने प्रथम कविता-संग्रह 'मधूलिका' और कहानी-संग्रह 'तारे' की प्रति तो उन्हें प्रणामपूर्वक भेजी ही थी। इलाहाबाद में उन दिनों स्वदेशी प्रदर्शनी चल रही थी। सहसा जबलपुर में मेरे बालबंधु उत्तमचंद श्रीवास्तव (उन दिनों प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी शोध-छात्र) मिल गये और बोले, "माखनलाल जी प्रयाग आए हैं, प्रदर्शनी घूम रहे हैं। अभी-अभी तुमको पूछ रहे थे। मैंने कह दिया तुम सीज़न टिकट लेकर रोज़ बिना नागा आते हो, तो मुस्करा पड़े। चलो उधर, कवि सम्मेलन के पंडाल से कुछ दूर खड़े हैं।"

मैंने कहा, "यह 'सीज़न टिकट' की बात तुमने क्यों कर दी? उन्होंने क्या सोचा होगा—कितना आवारा आदमी हूं मैं!'

पूरे एक दशक की दर्शन लालसा सहेजे संकोच-भरा मैं उनके पास खड़ा था। उन्होंने स्नेहपूर्वक मेरा सिर थपथपा दिया और मेरे बचपन की बातें बताने लगे, जब 6-7 वर्ष का मैं, पिता जी के साथ उनके पास जा-जा कर शरारतें किया करता था। लगभग 20 वर्ष पहले का वही शिशु पूर्ण

युवक होकर उनके सामने सहसा आकर खड़ा था।

इसके बाद न जाने कितनी स्मृतियां उनके सुकोमल साहचर्य से गुंथी पड़ी हैं। प्रयाग वह बराबर आते रहते। पहले जॉर्ज टाउन में श्री शालिगराम वर्मा के यहां ठहरते थे। बाद में सम्मेलन के अतिथि कक्ष में एक-एक सप्ताह रहते। जब वह सम्मेलन के अध्यक्ष हुए, तब उनका प्रयाग आना और बढ़ गया। सम्मेलन की अनेक समितियों की बैठकों में उन्हीं के साथ उठकर मैं उनके आवास-कक्ष में आ जाता। अकसर सर्वदानंद वर्मा, गोपीकृष्ण 'गोपेश', धर्मवीर भारती और जगदीश गुप्त (तब दोनों प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रतिभाशाली कवि-छात्र), सुमित्रा कुमारी सिनहा, ओंकार शरद, मनोहर चतुर्वेदी (उस समय उदीयमान कवि), राजवल्लभ ओझा—हम सब घंटों उनके पास बैठते, मिठाइयां खाते और कविताएं सुनते-सुनाते। रामनाथ 'सुमन', ज्योतिप्रसाद 'निर्मल', डॉ. रामकुमार वर्मा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, वाचस्पति पाठक, रामचंद्र टंडन जैसे बड़े लोग भी हमें वहां मिल जाते। चतुर्वेदी जी साहित्य में प्रमाण-पुरुष बन चुके थे, राजनीति में आख्यानक चरित्र, पत्रकारिता में पुराण-पुरुष और हम सब युवक, तरुण छात्र, उनसे कितने छोटे, अधबने, अधपके! पर उनके सगे-स्नेह में काल का कोई फर्क न था। उनकी दृष्टि में सबको एक-सी पात्रता, एक-सा साहित्यिक अवदान। 'हेम-मुद्रा' और 'वराटिका' जैसे उस साहित्य देहली पर समभाव से चढ़ती थीं। हम सब न जाने कितना, कैसा, क्या-क्या अच्छा-बुरा उनके सामने बोल जाते थे, उनसे बहसें करते थे। उनका प्रत्येक वाक्य प्रायः कवित्वपूर्ण सूक्तिवत् होता था, जो हमें विभोर कर देता था। एक बार मेरे साथ युवा उपन्यासकार, 'देशदूत' के सहकारी संपादक, अनंतप्रसाद विद्यार्थी उनके पास गये। उन्हें बराबर खामोश देख कर चतुर्वेदी जी ने कहा, "आप कुछ बोल नहीं रहे हैं, क्यों?" मैंने कहा, "आपका लिहाज़ कर रहे हैं।" चतुर्वेदी जी ने तत्क्षण कहा, "लिहाज़ तो अविश्वास का ही दूसरा नाम है, भैया!"

1945 में मेरे स्थायी रूप से जबलपुर आ जाने पर चतुर्वेदी जी से मिलने और उनका प्रेरक प्यार पाने का यही अबाध क्रम चलता रहा। उनके जबलपुर आते ही साहित्य-गोष्ठियों का तांता लग जाता था। मध्यप्रदेश

साहित्य सम्मेलन के गोंदिया अधिवेशन (1952) में उसके मनोनीत अध्यक्ष (स्व.) ब्रजलाल वियाणी के चुनाव की वैधता को हमने खुले मंच पर चुनौती दी। (स्व.) भवानीप्रसाद तिवारी और मैं विरोध की प्रखरता में अधिक उग्र हो गए। चतुर्वेदी जी ने ही वियाणी जी के नाम का औपचारिक प्रस्ताव रखा था। हमारे तीखे विरोध की लपेट में वह भी आ गए—वह स्थापना के समर्थक जो बन गए थे। हमारी आपत्तियों और आलोचना का उत्तर चतुर्वेदी जी ने दिया। वाणी के देवता तो थे ही—पूरे घंटे भर बोलते रहे। उनका भावविगलित वाक्य भुलाए नहीं भूलता—"रह गए 'अंचल' और भवानी तिवारी। इन्हें मैं क्या कहूं—कह भी क्या सकता हूं! ये दोनों मेरे दो फेफड़े हैं--फेफड़े! इन्हें क्या जवाब दूं?"

चतुर्वेदी जी को गए तेरह-चौदह साल हो गए हैं, पर आज भी नहीं लगता कि वह समाज और ज़माने के बीच में नहीं हैं—किसी आकाशी लोक में हैं। उनका साहित्यप्राण व्यक्तित्व चारों ओर भरा-भरा, भिदा-भिदा प्रतीत होता है। वासनाओं की पूर्ति को ज़िंदगी की रहस्यमयी वास्तविकता या संत्रासमयी यथार्थता बताने वाली साहित्यिकता के बीच चतुर्वेदी जी का प्रभविष्णु स्वरूप झलझलाता रहता है। किसी महान आकांक्षा की सृजन-कारी शक्ति की तरह वह आज भी छाये हैं। उन्हीं की सप्तवर्णी भावना में रंग कर यह आकांक्षा किरणोज्ज्वल हो गयी है। जिस प्रकार प्रत्येक टिम-टिमाता पीला तारा उषा के स्वागत के लिए आंखें बिछाये रहता है, उसी प्रकार चतुर्वेदी जी की इस उत्पादक आकांक्षा की प्रत्येक लय, स्वर, गूंज प्रभात के विश्वास से भरी है।

इस महान आकांक्षा में उष्णता और आर्द्रता दोनों हैं। जैसे नदी समुद्र का गान गाती है, उसी प्रकार यह आकांक्षा कवि की आंखों के सम्मुख लहराने वाले आलोकसिंधु की रागिनी बनकर रह गयी है। प्राण का अंत भले हो, पर इस आकांक्षा, इस आदर्श का अंत नहीं। 'सिरजन' के आह्वानों से भरी यह आकांक्षा चिर-अभिमानवती है। संघर्षों के बीच बदलते युगों में यह अग्निसेतु बन जाती है, जिस पर होकर सामाजिक परिवर्तन गुज़रते हैं। देश में जब-जब युगांतर हुए हैं, अग्निसेतु बनते आए हैं। बीसवीं शताब्दी ने हमारे भूगोल और इतिहास दोनों के युगांतर देखे

हैं, और देखा है दमन के पैरों तले बार-बार कुचली जाती और बार-बार उठ खड़ी होती जवानी की दुर्निवार हरियाली को।

भूगोल का युगांतर होने से पहले इतिहास के खूनी बदलाव की, संहारक विद्रोह की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी थी। यह युगांतर देशव्यापी था, पर उसका 'डायनेमो' मध्यदेश ही था। चारों ओर खुलते जागरण का सिंहद्वार यहीं तो था। 'एक भारतीय आत्मा' के अग्निसेतु ने यहीं से त्याग, तप के राष्ट्रयज्ञ में अपना सब कुछ अर्पित कर देने की राह बनायी। आहुति की यह कैसी दहकभरी उठान थी, जिसने एक फूल की साध को पूरे चमन की साध बना दिया। चारों ओर घहराते कुर्बानी के लोहित समुद्र को 'एक भारतीय आत्मा' जैसे अग्निम सेतुबंध की ही दरकार थी, जो सारे के सारे राहगीरों में ज्वाला सुलगाता चले। पर यह सेतुबंध अपने सारे जिंदा अनल-प्रवाह के बावजूद हिमाच्छादित है। 'हिम' कवि के लिए हिमालय से उठती साकार राष्ट्रचेतना का ज्योतिर्मय स्वरूप है। उनके संकलनों के 'हिम-किरीटिनी', 'हिम तरंगिणी' जैसे शीर्षक उनकी इस राष्ट्रीय आस्था के प्रतीक हैं। उन्हें हिमाच्छादित अग्निसेतु न कहकर केवल अग्निसेतु कहना उनकी इस हिमानी आस्था से कट जाना होगा। दूसरी ओर यही हिमाच्छादन उनके तन-मन को एक काव्यगत अंतःसंगीत से भरता रहता है। उनके पोर-पोर में, मज्जा-मज्जा में व्याप्त विद्रोह की धधकन में प्रेमार्द्र रसमयी भावना का मर्मी मधुचक्र रचाता है।

1938 से लेकर पूरे तीस साल जब-जब मैं चतुर्वेदी जी के निकट बैठा, वह मुझे गर्मी और ठंडकभरे अहसासों के अंबार जैसे लगे। आज न रहने पर भी लगते हैं और मुझ जैसे बहुतों को लगते होंगे। उनके भीतर की जलन ममत्व की, मानवीय करुणा की परतों से छन कर निर्मल जलबूंदों की शुभ्र लड़ी बन जाती थी। अपने आराध्य के गीत की कोमल कड़ी न बन पाने की वेदना उनकी आत्मा आजीवन अपने विषाद-रंजित गीतों में व्यक्त करती रही—उल्लास और मतवाली निष्ठा के साथ। फिर सत्य तो स्वयं आग है—चाहे पराधीनता की आत्मग्लानि का, गुलामी की काली-काली मर्म-वेदना का सत्य हो, चाहे शहादत की उठती झांकी का, शहीद के फूलोंभरे जनाज़े का हो। पर यह कवि उसकी तुषाराच्छन्न आंच को

रचनात्मक ऊर्जा, सृजन की उत्कृष्ट जिजीविषाकुलता में बदलता चलता है। यही अमर आकांक्षा 'एक भारतीय आत्मा' द्वारा छोड़ी गयी विरासत है। उनकी यह देन संतों की देन जैसी हृदय से सीधी जुड़ जाने वाली देन है। अपनी हिम-किरीटिनी मातृभूमि के प्रति कवि का प्रेम वैष्णव संतों के सर्वग्राही प्रेम जैसा सर्वाग्रही है, जिसमें उसे आध्यात्मिक सौंदर्य की झलक मिलती है। उनकी कविताओं में किसी विराट अशेष की गोद में विलीन हो जाने की ललक, रह-रह कर भक्ति-विस्मृत हो उठने की प्रवृत्ति का उत्स, इसी देश-पूजा में है। वेदना का यही स्वर रह-रह कर उनमें अकुलाहट भर जाता है :

'मार डालना किंतु सामने जरा खड़ा रह लेने दो,
अपनी बीती श्रीचरणों में कुछ भी तो कह लेने दो।'

देश-पूजा के इसी जीवनव्यापी संस्कार ने उनकी प्रेमानुभूतियों को ऐसी उदात्तता प्रदान की है कि उनका प्रत्येक प्रिय 'कॉस्मिक' बन गया है। प्रत्येक अर्चना कवि-कल्पना की धूपदानी में सुलगती अगरु-र्वातिका बन गई है। संतत्व की कैसी अपूर्व विधा है यह, जिसमें जीवन का प्रत्येक अंकुर प्रिय लगने लगे, क्योंकि उसके भीतर देश की मिट्टी बोलती है। प्रत्येक बिरवे की हड्डियों में उन्हें देश की अग्नि का 'फास्फोरस' मिलता है।

परिस्थितियों की शृंखला से, राग-विरागभरे भौतिक लगावों से, सुख-दुख की परिधि से कौन मुक्त हो पाया है? पर बंधनों की जकड़न में भी चतुर्वेदी जी एक साधक की आकांक्षा अग्निहोत्र की तरह तपाते रहे। यह आकांक्षा योजनगंधा सत्यवती की तरह अनंतयौवना है, क्योंकि इसके पीछे अगणित शहीदों का भस्म-कुंड है। स्वास्थ्य ने तो बहुत पहले साथ छोड़ दिया था, शरीर भी धीरे-धीरे साथ छोड़ दे रहा था। पर उनकी देन, उनकी यही जीवन-सर्जक आकांक्षा उन्हें न छोड़ती और न उनके मर जाने पर उसने उन्हें छोड़ा है। उनके ऊर्जा-पुरुष से फूट कर, फैल कर वह तत्व बन गयी है।

3

प्रेमचन्द : जैसा मैंने देखा

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

नौ-दस वर्ष की कच्ची आयु में ही मैं प्रेमचन्द की कहानी 'गृहदाह' और उपन्यास 'सेवासदन' पढ़ चुका था। आयु के ग्यारहवें वर्ष में जब उनका दो भागों में छपा उपन्यास 'रंगभूमि' पढ़ा तो उसके रोचक कथा-रस में ऐसा डूबा कि उन्हीं जीवन्त चरित्रों—सूरदास, मिठुआ, बजरंगी, जमुना, विनय, सोफिया, ताहिर अली, कुलसुम, इन्दु, जानसेवक, प्रभुसेवक के साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, सोने-जागने लगा। न जाने कैसा सजीव, रंगीन भावना-लोक आंखों के सामने खुल गया। उपन्यास की नायिका 'सोफिया' मुझे देवीतुल्य लगी थी। उसकी भावपूर्ण, कवित्वमयी सूक्तियां मन को मोहित किए थीं। उस समय मैंने सोचा भी न था कि तीन वर्ष बाद मुझे उस महालेखक को लखनऊ में ही, बिलकुल पास से, वर्षों घर में और बाहर देखने, घर के लोगों और बाहर के साहित्यिकों के साथ उनकी कहकहों से भरी बातें सुनने, उन्हें ज़मीन पर बैठे, अपनी डेस्क पर झुके घंटों लिखते देखने का सुयोग मिलेगा, जो जीवन की पौ फटते-फटते मेरे मनमस्तिष्क पर छा गया था। उन दिनों मुझे उनकी कहानियां और उपन्यास किसी ऐसे देवता मन के द्वारा लिखे गए मर्माख्यान लगते थे जो इनसान को प्यार करता है—सबके दुखदर्द में अपनी संवेदना देता रहता है—अपने सभी दिखे, अनदिखे चरित्रों को अपनी करुणा बांटता है, पर छिपे-छिपे, खामोशी के साथ, बिना बताए। मेरा सवेदित बालपन अपने भीतर चारों ओर पलकें उठाए पूछता था—ऐसा अभाव, उत्पीड़न क्यों है ?—ऐसा अन्याय क्यों होता है ? क्या सदा से ऐसा ही होता आया है ? जैसे कोई 'कास्मिक' शक्ति जीव-जीव, जड़-चेतन के, कायनात के पीछे व्याप्त है उसी प्रकार प्रेमचन्द मुझे अपने सृजे प्रत्येक छोटे-बड़े चरित्र और रचे प्रत्येक वातावरण के पीछे बसे-छिपे लगते थे। तीन वर्ष बाद ही मुझे उस जीवनशिल्पी को निकट से देखना-सुनना पड़ा था। मैं नहीं जानता मेरी पीढ़ी के कितने

कवि-लेखकों को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा।

दुलारेलाल भार्गव और रूपनारायण पांडेय ने 'माधुरी' से अलग होकर जब 'सुधा' के प्रकाशन का निश्चय किया तब माधुरी के सम्पादन के लिए उसके प्रोप्राइटर, नवलकिशोर प्रेस और एस्टेट के स्वामी, मुंशी विशुननारायण भार्गव ने कृष्णबिहारी मिश्र और प्रेमचन्द को आमंत्रित किया। रूपनारायण पांडेय और मेरे पिता मातादीन शुक्ल को भी 'माधुरी' में चले आने का आमंत्रण था, पर दोनों दुलारेलाल भार्गव के साथ बने रहे। गंगा फाइन आर्ट्स प्रेस खुला और 'सुधा' निकली—अपने पहले ही अंक से 'माधुरी' से(जो वर्षों की जमी हुई श्रेष्ठ साहित्यिक मासिक पत्रिका थी) टक्कर लेती हुई! मुझे याद है कृष्णबिहारी मिश्र और अपने पिता की प्रगाढ़ मैत्री, जिनके आग्रह पर 'सुधा' में केवल एक वर्ष काम कर और नवस्थापित गंगा फाइन आर्ट्स प्रेस की प्रबंधकी भी छोड़ कर मेरे पिता 'माधुरी' के सम्पादन-विभाग में लौट आए। 'जैसे उड़ि जहाज़ को पंछी पुनि जहाज़ पर आवै'।

लाटूश रोड वाला हमारा आवास न बदला था। नीचे के हिस्से का 'माधुरी' कार्यालय अब हज़रतगंज (नवलकिशोर प्रेस) में चला गया था। 'सुधा' का कार्यालय अमीनाबाद से 'अलफिन्सटन' छविगृह (पिक्चर पैलेस) की ओर जाने वाली लाटूश रोड की चौड़ी सड़क की एक बड़ी गली में था। लाटूश रोड वाले हमारे मकान के नीचे बड़े हिस्से में 'शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस' आ गया था—ऊपर के छोटे हिस्से में हम रहे आये। अब हमारा प्रवेश-द्वार पीछे की ओर हो गया था, जिसके ठीक सामने घोषी मुहल्ला (मुसलमान, पर संस्कार से काफी हिन्दू दूधवालों की बस्ती) था। बीच की सड़क एक ओर गणेशगंज और दूसरी ओर भूसामंडी होती हुई अमीनाबाद की ओर जाती थी। 'माधुरी' का सम्पादन-भार संभालते ही प्रेमचन्द पहले किस मकान में रहे यह तो मुझे याद नहीं, पर शीघ्र ही वह हीवेट रोड और लाटूश रोड के ठीक तिराहे पर स्थित डा० हीरालाल पाठक (उन दिनों के प्रसिद्ध होमियोपैथ) के दुमंज़िले बड़े मकान के साफ-सुथरे ऊपरी फ्लैट में आ गए थे जो आजकल फ्लैट कहे जाने वाले गृहखंडों से कहीं बड़ा था। उन दिनों अमृतराय पांचवीं कक्षा में, श्रीपतराय सातवीं में और मैं

नवीं में था। यही दो-दो वर्ष का अन्तर तकरीबन हम तीनों की आयु में रहा होगा। यदि भूलता नहीं तो वे दोनों क्वीन्स स्कूल में थे और मैं कान्यकुब्ज इन्टर कालेज में। क्वीन्स स्कूल नगर के मध्य में था और स्टेशन के पास गाज़ीउद्दीन हैदर कैनाल के किनारे तब अधबने कान्यकुब्ज इन्टर कालेज (आज का जयनारायण डिग्री कालेज) की अपेक्षा पढ़ाई और परीक्षाफल दोनों में बेहतर समझा जाता था। हम तीनों औसत छात्रों से अलग थे—प्रबुद्ध साहित्यिक संस्कार लिए हुए, पत्र-पत्रिकाओं, कहानी, उपन्यास, नाटकों में रुचि रखने वाले, यद्यपि कविता की ओर मेरी रुचि और भी अधिक थी। पढ़ने में दोनों मुझसे कहीं ज़्यादा तेज़ थे—क्लास में 'पोज़ीशन' लाने वाले। मैं हिन्दी और अंग्रेज़ी को छोड़कर अन्य किसी विषय में मन न लगा सकने वाला—हर कक्षा में 'प्रमोशन' पाने वाला।

दो-तीन बार पिता के साथ प्रेमचन्द के इस नये घर जाने के बाद मैं अकेला खेलता-कूदता वहां जाने लगा। माता शिवरानी जी और बड़ी बहिन 'बेटी' कमलादेवी का स्नेह मिला—दोनों भाइयों की बालमैत्री मिली। पर अधिक दिन की नहीं। परिस्थितिवश साल-भर बाद पिता को वह मकान छोड़ना पड़ा। हमें नया मकान हुसैनगंज में मिला, जहां से मेरा स्कूल काफी पास था और पिता भी अपने कार्यालय पैदल जा सकते थे। तब तक 'विशाल भारत' भी निकलने लगा था। उसमें, 'चांद' में, 'माधुरी' में तो प्रतिमास प्रेमचन्द की कहानी मैं पढ़ता ही था, और भी जहां मिल जाती थी ढूंढ़कर पढ़ता था। घर पर आई पत्र-पत्रिका के नये अंक में प्रेमचन्द की कहानी पढ़ता और सोने से पहले तक उसे ही बिसूरता रह जाता था। उनकी समाजव्यापी विशद मानवीय संवेदना को तब भला मेरा अधकचरा मन कहां समझ पाता, पर गेहूं-धान की नयी बालों को, मटर की ओसभीगी रोमांचित बालियों को देखकर, छूकर जीवन का जो उन्मेष मन में जागता है कुछ-कुछ वैसा ही मेरे भीतर कोंपलित होता था—फूटता था। आश्चर्य लगता था कि हमदर्दी बिना बोले, अपने को बिना खोले इतनी मार्मिक, इतनी पुरअसर हो सकती है—मेरे अर्धकिशोर दिल को ऐसा ठहराव दे सकती है।

इसके बाद दूसरे-तीसरे दिन सुबह या शाम जब उनके घर जाता और

उन्हें सामान्य मानव की तरह उठते-बैठते, बोलते-चालते देखता तो जैसे विश्वास न होता था कि कल-परसों पढ़ी और किसी गहरे खुमार की तरह अभी तक मन को अभिभूत किए कहानी उन्हीं की लिखी होगी। यह ही हैं वह जो साधारण में इतना असाधारण, नया-नया, अछूता-अद्‌भुत सा भर देते हैं। छोटी आयु से लेकर वर्षों तक मैं प्रेमचन्द के रचना-प्रवाह में तैरते नर-नारी चरित्रों के साथ यथार्थ जीवन जैसी आप से आप जन्मी-उगी आत्मीयता पाकर भावविगलित मर्मचकित रहा आया था। उनका नाम तो किसी पुराण-पुरुष की तरह पहले से मन में रमा ही था, अब उनकी मूर्ति कुछ ऐसी बन गयी थी, मन में ढल गयी थी, जैसे वह किसी अन्य लोक के वासी हों और नित्य नये नर-नारी गढ़ते जाते हों—ऐसे नर-नारी जो जीवित ही नहीं, मर कर भी अपने मानव होने का प्रमाण देते रहते हों। रात को जिन्हें कुछ-कुछ अपार्थिव और दिव्य माने रहता उन्हें ही दूसरे दिन उनके घर जाने पर जब साधारण जन की तरह लिखते-पढ़ते या घर के दीगर कामों में लगा पाता तो मन को हलका-हलका धक्का लगता। किताबी होने पर भी जिसकी कहानियां किताबी नहीं, रामायण की सचाइयों जैसी अपने ही सनातन रक्त की बातें लगती हैं, वह इतना सीधा-सादा, नपे-तुले कद और रहन सहन वाला सामान्य-जन क्यों और कैसे है ?—मैं समझ न पाता था। मन बचपन में यों ही तरह-तरह की कल्पनाएं रचता है और उन्हीं की मिठासभरी भव्यता में घुला करता है। फिर मेरा मन तो आगे चल कर स्वच्छन्द कवि के रूप में पकने वाले का मन था जो अकसर जीवित यथार्थो को भी रम्य, आकाशी स्वप्नजगत् की रूपाकृतियां माना करता है।

उसी वर्ष (1928) हमारे कालेज में हर साल की तरह तुलसी जयन्ती का आयोजन हुआ। इस बार प्रेमचन्द अध्यक्ष थे। निराला एक वक्ता थे। प्रमुख वक्ता का पद तब तक हिन्दी में ईजाद न हुआ था, पर निराला जहां भी होते थे अपनेआप (ज़ोरदार व्यक्तित्व के कारण) प्रमुख हो जाते थे। कालेज के छात्रों की ओर से खानचन्द गौतम ने (रघुकुल तिलक के स्नेह-भाजन, स्वतन्त्रता संग्राम सैनिक, छात्र जीवन में ही हिन्दी-अंग्रेज़ी वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में चमकने वाले, बाद में एम० एल० ए०, लखनऊ

के हिन्दी 'नवजीवन' के सम्पादक, प्रतिभावान सुलेखक, जो उस समय इन्टर प्रथम वर्ष में थे) प्रेमचंद को माला पहनाई—और अध्यापकों के आदेश पर स्कूली छात्रों की ओर से मैंने। अपने बच्चों के साथ अक्सर देखा हुआ मेरा मुंह पहचानने में उन्हें क्या देर लगती, वत्सल हंसी जैसी गाढ़ी मुस्कान उनकी घनी मूंछों के बीच फूट पड़ी। 31 जुलाई, 1980 को विलासपुर नगर में आयोजित प्रेमचन्द शताब्दी समारोह में उनके चित्र पर माल्यार्पण करते हुए मुझे 50 वर्ष से ऊपर की पुरानी वही पुलकभरी शाम याद आ गई जब मैंने पहली वार अपने जीवन में माला पहनाई थी—इतने लोकप्रिय लेखक को। इसके वाद न जाने कितनों को कितनी वार माला पहनाने का अवसर मिला—कभी मन से, कभी बेमन, पर वैसा भावभीना रोमांच तो कभी न हुआ। निराला का भाषण तुलसीदास पर कम, उन दिनों चारों ओर से विरोध पा रहे छायावाद के समर्थन में अधिक था। उसी वर्ष मुज़फ्फरपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से पद्मसिंह शर्मा ने जो भाषण दिया था उसमें छायावाद पर काफी व्यंग्य-वर्षा की गयी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तीव्र विरोध भी प्रकाशन पा चुका था। निराला इसी सव की कसकती प्रतिक्रियाओं में उन दिनों डूबे रहते थे। प्रेमचन्द का सीधा-सादा निरंतर मुस्कानों के बीच से आगे बढ़ता भाषण अधर्म पर धर्म की विजय, अनीति की नीति के आगे पराजय, त्याग, साधुता, विमल-विवेक आदि की तरुणोपयोगी बातों से भरा था। सुनने में लगा था जैसे उन्हीं की लिखी कोई कहानी पढ़ रहे हों।

पहली ही भेंट में जव शिवरानी जी को विदित हुआ कि मेरी दादी का मायका और उनका मायका एक ही ज़िला, तहसील में—केवल मील दो मील के फासले के गांवों में है तो उन्होंने मेरी दादी को बुआ कहना शुरू कर दिया। मेरी दादी जनम की दुखियारी थीं। उनकी न कोई भतीजी थी, न भानजी। भरी जवानी में मरी अपनी चार-चार संतानवती लड़कियों की मां थीं मेरी दादी, जो पुत्रीवत् प्रेमव्यवहार और सम्बोधन की आकांक्षिणी शेष जीवन-भर रही आई। शिवरानी जी से मिलकर वह आनन्द से भर-भर जाती थीं। शिवरानी जी मेरे पिता को भाई साहब और मां को भाभी कहने लगीं। मैं उनको बुआ जी कहता था।

'कायाकल्प' तब तक पढ़ चुका था। उसकी एक नारी पात्र (शायद चक्रधर की पत्नी) अहल्या एक स्थल पर गाती है :

'बहुत दिनों तकप्रेममंत्र मनमंदिर में जपने के बाद,
पाऊंगी मैं उन्हें प्रतीक्षा में चिर-दिन तपने के बाद।'

हिन्दी में उन दिनों 'प्रगीत शब्द' तो शायद चला ही न था, 'गीत' भी साहित्यिक अर्थ में व्यवहृत न होता था। केवल 'गीत' शीर्षक देकर निराला, पन्त और अनेक परवर्ती कवियों की गीत रचनाओं का छपना तब शुरू न हुआ था।

एक दिन मैंने धृष्टतावश कहा, "कायाकल्प में अहल्या ने जो कविता गाई है वह रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' की लिखी है।"

प्रेमचन्द ने पूछा, "तुमने कायाकल्प पढ़ डाला?"

मैंने तपाक से कहा, "दो बार पढ़ा है।"

प्रेमचन्द ने कहा, "तुम्हें कैसे मालूम हुआ वह कविता 'सरस' की है?"

मैंने कहा, " 'चयनिका' में वह कविता 'सरस' जी की दूसरी कविताओं के साथ छपी है। महादेवी वर्मा, महादेवी शर्मा (इस नाम से भी उन दिनों 'चांद' में अनेक कवितायें छपती थीं), सुमित्रानन्दन पन्त, आनन्दीलाल श्रीवास्तव, पद्मकान्त मालवीय और भी कुछ कवियों की कवितायें हैं। सब के चित्र हैं—पन्त जी का वही चित्र उसमें है जो 'वीणा' में है।"

मैं उत्साह की अधिकता में अपनी जानकारी बताने के लिये और बोलता जाता तब तक उन्होंने दूसरा सवाल किया, "तुम्हें कहां मिली?"

मैंने कहा, "गरमी के छुट्टी में पन्द्रह दिन इलाहाबाद रहा। 'रसाल' जी और पद्मकान्त जी के घर रोज़ जाता था—वहीं से उठा लाया।"

प्रेमचन्द ने विनोदपूर्वक कहा, "पूछ कर लाये या यों ही।"

मैंने कहा, "दोनों के यहां मेरे लिये कोई रोकटोक नहीं। पंडित कृष्णकांत जी ('अभ्युदय' के यशस्वी सम्पादक, स्वाधीनता संग्राम सेनानी, सांसद और पद्मकान्त जी के पिता) के पास भी खूब बैठता था। मैं दस-बारह किताबें ले आया हूं। आपकी 'सप्तसरोज' भी मिल गयी है।"

आधी सदी से भी अधिक के बाद याद आता है प्रेमचन्द से एक बार इतनी ही बात करने का साहस मैं कर पाया था। कभी-कभार स्कूल की

या पढ़ाई की कोई छोटी-मोटी बात हुई हो तो नहीं कह सकता। उन्हें घर पर प्रायः लिखते-पढ़ते ही पाता था। उनके घर जाते ही शिवरानी जी और बेटी से बतियाता या ऊपर की बड़ी छत पर जाकर हम तीनों बच्चे कनकौओं (पतंगों) की बात करते-उड़ाते। अपने स्कूल की, मास्टरों की, शहर की बातें करते। प्रेमचन्द की रचनागत महान शक्ति का अदम्य अन्तर्बोध—एक भली भांति चीन्हे न जा सकने वाले आदर की दूरी मुझे सम्भ्रम से ढकामुंदा रखती थी। तब मेरी उम्र 13-14 वर्ष से अधिक न थी। अपनी कक्षा का मैं सबसे कम उम्र का छात्र था। मुझे याद है इसके तीन वर्ष बाद कवि 'सरस' ने भी गर्व के साथ अपनी कविता (शायद 'मौन प्रतीक्षा' शीर्षक था) प्रेमचन्द द्वारा 'कायाकल्प' में लिये जाने की चर्चा मुझसे की थी। पर तब अपने अग्रज 'रसाल' (डा०) के प्रबल प्रभाव में आकर 'सरस' खड़ी बोली में कविता लिखना छोड़कर शतप्रतिशत ब्रज-भाषा के कवि बन चुके थे।

सन् 1930 या 1931 की शुरूआत में 'माधुरी' से त्यागपत्र देकर अपने मासिक 'हंस', प्रकाशन और प्रेस को पूरा समय देने के लिये स्थायी रूप से काशी चले जाने के बाद मुझे प्रेमचन्द के दर्शन फिर कभी न हुए।

इस बीच 'गबन' और 'कर्मभूमि' पढ़ डाले थे। दूरी के उन्हीं छः वर्षों में प्रेमचन्द के 'सेवासदन' पर बनी फिल्म 'बाज़ारे हुस्न' भी देखी थी। लखनऊ उन दिनों साहित्यिक प्रेरणा और स्फूर्ति का घर बना हुआ था—भले ही काशी और इलाहाबाद की जैसी पुरानी साहित्यिक परंपराओं का वह धनी न रहा हो। शान्तिप्रिय द्विवेदी, भुवनेश्वर, गोपालसिंह नेपाली, बलभद्र दीक्षित, गिरीशचन्द पन्त के साथ रोज़ घन्टों साहित्य-चर्चा होती। प्रेमचन्द के फिल्मी जगत् से काशी लौटकर आने की बात सुनी, उनके बीमार पड़ने, अधिकाधिक गम्भीर अवस्था में होते जाने की बात सुनी। अंग्रेज़ी अखबारों की तो बात ही क्या हिन्दी के दैनिकों, साप्ताहिकों में भी उन दिनों उनके जैसे अग्रणी रचनाकार की बीमारी का समाचार शायद ही कभी छपा हो। सारी जानकारियां इलाहाबाद, काशी से आने वाले साहित्यिक बन्धुओं से ही मिला करती थीं।

तब मेरे इक्कीस वर्षीय जीवन का वह कितना गर्वभरा दिन था।

लखनऊ में भुवनेश्वर ने मुझे 'लीडर' में छपी, बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा प्रेमचन्द का उन्हीं दिनों लिया गया इन्टरव्यू 'भविष्य किनका है ?' पढ़कर सुनाया था। भुवनेश्वर उसे जेब में लिये घूमते थे। प्रेमचन्द ने भविष्यवान कहानी लेखकों में मेरा भी नाम लिया था। मेरे उल्लास की सीमा न थी। मेरे सर्वप्रथम कहानी संग्रह 'तारे' की पांडुलिपि नवलकिशोर बुक डिपो द्वारा प्रकाशन के लिये मांगी जाकर सम्पादनार्थ रूपनारायण पांडेय के दराज में पड़ी थी। मैं उसी दिन 'माधुरी' कार्यालय में जाकर उनसे ललक के साथ बोला था—"चाचा! अब मेरा कहानी-संग्रह तुरन्त प्रेस में दे दीजिये। प्रेमचन्द ने मुझे आगे चलकर बड़ा होने वाला कहानी लेखक माना है—जैनेन्द्रकुमार जैन, जनार्दन झा 'द्विज', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जैसे प्रसिद्ध नामों के साथ मेरा भी नाम लिया।"

इसके दो-चार सप्ताह बाद उन्हीं भुवनेश्वर ने मुझे प्रेमचन्द के चिर-प्रयाण का समाचार दिया। मैं उन दिनों समाचार पत्र अक्सर नहीं पढ़ पाता था। हज़रतगंज में अपने रोज़ की बैठक कवि मित्र राजकिशोर शर्मा के घर हम थे। प्रेमचन्द की मृत्यु न समझ में आ रही थी, न मेरे गले के नीचे उतर रही थी। अधकचरी स्कूली आयु में उन्हें वर्षों देखा था—उस युग की कथा-यात्रा के कारवां के अमीर की तरह। उन्होंने मुझे देखा था घर के बच्चे की तरह, कुछ ही दूर पर बसे अपने सहृदय सहयोगी के बच्चे की तरह। उन्हीं प्रेमचन्द को फिर जीवित न देख पाया। जब उनका कथा-रस पिया तब उन्हें निकट से जाना-पाया। जब सामाजिक-राष्ट्रीय संघर्ष से जूझती भारत की जनता को हिन्दी गद्य में सदा के लिये लिख देने वाले इस समता संस्थापन धर्मी को सही रूप में समझने, उनका कालजयी जीवन-प्रबोध पाने का समय आया तब वह अतीत की याद बन गये।

लखनऊ में नागरिक स्तर की कोई साहित्यिक संस्था उन दिनों न थी जहां कोई शोकसभा हुई हो। हां, 'माधुरी' और 'सुधा' में गहन दुखभरी श्रद्धांजलियां अवश्य उन्हें सम्पादकीय स्तम्भों में अर्पित की गई थीं।

4

जलना हो जिसे वो जले मुझ-सा

अपने जीवन में पहला कवि सम्मेलन मैंने सन् 1930 में लखनऊ के क्रिश्चियन कालेज के सभा कक्ष में सुना था, जो आचार्य 'सनेही' की अध्यक्षता में आयोजित था। एक अर्धशती के बाद जब उसकी याद करता हूं, तो पूरा जीवन आंखों के सामने घूम जाता है। दिसंबर की सर्दीली रात में बाहर से आये हुए कवि अपना-अपना कंबल लिये मंच पर आसीन थे। अधिकांश कवियों को रात को ही कानपुर, सीतापुर, रायबरेली, उन्नाव लौट जाना था। निराला जी उन दिनों लखनऊ में ही थे और वह भी मंचासीन थे। 'सनेही' जी के प्रति उनके मन में अगाध आदर था। उनकी 'शैव्या-विलाप' कविता निराला जी को पूरी याद थी, जिसे वह भाषा की सफाई और करुण संवेदना की चर्चा चलने पर सुनाया करते थे। उनकी अनेक अन्य कविताओं के प्रचुर उद्धरण वह अपने लेखों में देते रहते थे। दूर से ही दोनों हाथ जोड़ कर, "'सनेही' जी, प्रणाम करता हूं" कहते हुए उन्हें शीश नवाते थे और 'सनेही' जी आह्लादपूर्वक आगे बढ़ कर उन्हें हृदय से लगा लेते थे।

बचपन से ही 'सुकवि' का पाठक मैं था। उस युग के दिग्गजों में 'सनेही' जी का नाम गूंजता था, पर उनके दर्शन पहली बार हो रहे थे। ओजपूर्ण भाव-भंगिमाओं से सजीव, उनका काव्य पाठ पहली बार सुन रहा था। उन दिनों माइक का चलन नहीं था। कड़कती हुई वीरोल्लासपूर्ण वाणी उनके राष्ट्रीय भावोद्दीप्त कथ्य को उजागर कर रही थी। सन् 1930 का वर्ष गांधी जी के नमक सत्याग्रह और देशव्यापी क्रूर सरकारी दमन का बलिदानी वर्ष था। 'सनेही' जी से ठीक पहले निराला जी 'अभी न होगा मेरा अंत' और 'जागो फिर एक बार' सुना कर वातावरण को दहका चुके थे। 'सनेही' जी वीर रस के साकार रूप बने, अपने छंदों द्वारा बिजली का संचार कर रहे थे। दोनों कविकुल-गुरु थे।

एक बार कहीं कवि गोष्ठी में, किसी साहित्यकार ने कहा, " 'सनेही' जी, आपने कोई महाकाव्य क्यों नहीं लिखा ?"

'सनेही' जी ने आक्रोशरंजित स्वर में कहा, "कहां है अनूप, कहां है 'हितैषी' ? दोनों को बुलाओ फौरन।"

गुरु की पुकार सुनते ही उस युग के दोनों प्रख्यात कवि सामने खड़े हो गये। दोनों उनके अग्रणी शिष्य थे। 'सनेही' जी ने प्रश्नकर्ता की ओर दृष्टि डालते हुए सगर्व कहा, "मैंने ये दो महाकाव्य लिखे हैं।"

प्रश्नकर्त्ता निरुत्तर हो गये।

'सनेही' जी सच्चे अर्थ में जनकवि थे। वह काव्य की उस रसमयी, आनंददायिनी लोक-प्राणधारा के जीवंत प्रतीक थे, जो आज भी हिंदीभाषी क्षेत्रों में गांव-गांव, कस्बे-कस्बे में बह रही है। उन्होंने आजीवन न जाने कितनों को काव्य की प्रेरणा और अभिव्यक्ति की संस्कारशीलता प्रदान की। न जाने कितने कवि बनाये, जाने कितनों के निर्माण में योगदान दिया। एक युग तक 'सुकवि' के सम्पादन द्वारा कविता की जनरुचि को जगाने और परिष्कृत करने का उन्होंने अथक प्रयास किया। छायावाद के समानांतर वह रीतिकालीन काव्य परंपरा को तो जिलाये ही रहे, देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित, प्रसूत, अनुप्राणित कविताओं के द्वारा वह नवयुग का द्वार भी खोलते रहे। 'त्रिशूल' जैसी भेदक उनकी अनेक कविताएं उनके इस पैने उपनाम को सार्थक करती हैं। हिंदी कविता में ओज और माधुर्य की जीती-जागती कीर्तिमयी कड़ी बना कर वह साहित्य के इतिहास में अमर हैं। उन्होंने युग बनाये हैं। युग-चेतनाएं रची हैं। गणेशशंकर विद्यार्थी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्रीकृष्णदत्त पालीवाल जैसे देश-भक्तों ने उनकी रचनाओं से आत्मदान की प्रेरक स्फूर्ति पायी है।

छायावादी अस्पष्टता, अधिकाधिक छीजती जाने वाली अनुभूति के स्थान पर कल्पनाओं की आकाशी उड़ान और अप्सरा लोक के अशरीरी बिंबों की योजना के उस युग में, 'सनेही' जी के पास सीधी जाकर हृदय को बेधने और रसाभिभूत कर देने वाली भावाभिव्यक्ति के कवि के लिए केवल एक ही प्रशंसात्मक वाक्य था। एक बार मैं पूछ बैठा, "पंडित जी ! 'प्रदीप' (प्रसिद्ध चलचित्र गीतकार और उन दिनों के उदीयमान गायक कवि) कैसा

लिखते हैं ?"

'सनेही' जी अपना गरिमामंडित शीश हिला कर बोले, "साफ लिखते हैं।"

मुझे याद नहीं आता कि किसी भी होनहार कवि के लिए उनके पास इससे बड़ा प्रमाणपत्र उन दिनों कोई था। छायावादी अरूपाभिव्यंजन के उस शर्मीली कुहेलिका भरे युग में 'साफ लिखना' सचमुच एक उपलब्धि थी—यह पचास वर्ष बाद भी मुझे ज्यों का त्यों याद आ रहा है। यही उनका आशीर्वाद था, जो मेरी पीढ़ी के किशोर कवियों को उन दिनों उनसे जब-तब मिल जाया करता था।

'सनेही' जी आचार्य थे, उस्ताद थे, एक मंडलीक काव्याग्रणी थे। भाषा को तराशने, छंदों को संवारने और निखारने को, कथ्य की शक्ति को इस प्रकार बढ़ा कर शक्ति को अधिक से अधिक आघातकारी बनाते रहने की उनकी कवि-सर्जक प्रक्रिया अंत तक चलती रही। 'सुकवि' का पूरा अंक उनकी संशोधनपटुता से भरा रहता था। 'सीमाब' की पंक्ति : 'वही कलीम है जो हर लफ्ज़ पर अटकता है', उनके द्वारा दी गयी जीवनव्यापी 'इसलाह' की देन को ही रेखांकित करती है। जो भाषा-संस्कारी कार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी गद्य में(पद्य के क्षेत्र में भी) किया, वही 'सनेही' जी ने दशकों तक ब्रजभाषा और खड़ीबोली के स्वीकृत-प्रचलित छंदों में लिखी जाने वाली परंपरानुमोदित कविता के लोकव्यापी विपुल सृजन में किया। उनकी साहित्यनिष्ठा, लगन, निस्पृहता और हिन्दी कविता के लिए सम्पूर्ण समर्पित साधना हिन्दी जगत् में इतिहास की यादगार बन गयी है।

उन दिनों कोई भी कवि सम्मेलन 'सनेही' जी के बिना सूना लगता था। उनका व्यक्तित्व जैसे पूरे माहौल पर छा जाता था। जिस मंच पर वह होते थे उस पर किसी और के अध्यक्ष होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। उनका सौम्य, निरभिमान, स्वाभिमान से दीप्त रसाकार व्यक्तित्व दूर से ही अपने को पहचनवा देता था। उनके तेवर, उनकी भंगिमाएं, उनका लहजा, उनका काव्यशास्त्र-विनोदी स्वभाव, कविता के प्राण की पकड़ उन्हें एक विचित्र घटक की संज्ञा प्रदान करती थी। उनके लखनऊ आने की खबर पाते ही हम फड़क उठते थे। उनके साथ पूरी कवि मंडली चलती

थी। व्रजभाषा और खड़ीबोली के वह जीते-जागते चलते-फिरते संगम थे। उर्दू भाषा पर उनका अधिकार अच्छे-अच्छे शायरों को चकित कर देता था। तीक्ष्ण सामाजिक चेतना, राष्ट्रीय पराभव, देश के औपनिवेशिक शोषण की वेदना और स्वाधीनता-प्राप्ति के प्रति उत्कट आकांक्षा की अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह भारतेंदु हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र की विचारधारा से सीधे जुड़े थे। आजीवन जैसे वह उन्हीं के द्वारा उर्वरित, दासता के प्रति तीव्र आक्रोश-प्रतिशोध की भावना को अपने में जगाये रहे।

निकट से निरंतर देखे-जाने और मन के आदर के कंगूरे पर विठाये किसी साहित्य-पुरुष का संस्मरण उसके साथ अपने मन की बातें करने के समान है। वैसे भी कोई श्रद्धासिक्त याद जब शब्दों की लकीरों से गुज़रती है, तो रुकना जानती ही नहीं—यों चाहे जितने वर्ष मन में पड़ी रह जाये। एक मुश्किल यह भी तो है कि 'सनेही' जैसे जन-जीवन-रस-जलधारा के सदेह प्रतीक का संस्मरण उस संपूर्ण काव्यरस-पिपासु, विराट पाठक-श्रोता समाज, भावक संप्रदाय का संस्मरण है, जो सारे देश में फैला है। अदम्य मनोबल, आत्मगौरव और संघर्षों में आजीवन प्रखरतर होती आयी दृढ़ता में, निराला जैसे ही, वह भी अपना सानी नहीं रखते थे। मेरी गिनती भी वह 'साफ' लिखने वालों में करते थे, और एक बार तो मेरी कविता की 'जांफ़िशानी' की बात उन्होंने उन दिनों कही थी, जब मैं इस शब्द का अर्थ भी भली प्रकार न जानता था। हम जैसों के लिए उनकी एक-दो शब्दों की नपी-तुली प्रशंसा ही उन दिनों मादक बन जाती थी। उनकी पंक्ति : 'सुकवि सनेही वे पिये ही मतवाले हैं', हमपर भी घटित होने लगती थी।

अनेक कठिन, लगभग असाध्य बीमारियों को पराजित कर वह बयासी वर्ष से ऊपर का सार्थक, परहितरत और सफल जीवन जी गये। कभी शायद ही उन्हें किसी पर क्रोध आया हो, किसी के प्रति उन्हें उत्तेजना लगी हो। उनके उदार महानद जैसे सतत प्रवाहित मन ने कभी, किसी की, कैसी भी भूल को अक्षम्य नहीं माना। क्षमा का ऐसा पूर्ण प्रणम्य साकार रूप आज तो क्या, उन दिनों भी दुर्लभ था। देश की रक्तशोषक

ब्रिटिश सत्ता पर इतने प्रखर और घृणात्मक प्रहार करने वाला, तेज-पौरुष-सम्पन्न कवि अपने सामान्य जीवन में इतना सहिष्णु, शालीन और सात्विक रहा होगा, इसे बिना उन्हें जाने और अंतरंग संपर्क में आये समझा ही नहीं जा सकता है।

जीवन के प्रत्येक अंकुर को आत्मीय प्यार से अपनाने वाला केवल अपने लिए ही नहीं जीता। जो भी उसके संपर्क में आता है, वह उन्हीं में से स्वयं को भी एक समझता है। दूसरों के लिए जिया गया इतना लंबा जीवन, बाहर से चाहे जितना कठिन, अभावग्रस्त और देश-समाज द्वारा उपेक्षित दिखता हो, पर भीतर-भीतर वह अधिक से अधिक समृद्ध, सुंदर और सुखद होता जाता है। जहां प्राणी-मात्र के प्रति आस्था हो, वहां संशय-कुंठा और अविचार के लिए स्थान कहां ? ऐसा मुक्त निर्मल मानस जिजीविषा की प्रतिमूर्ति बन जाता है। उसकी प्राणता अबाध होती है, जो सबके अनुभवों को समेटे चलती है, सबसे ऊर्जा की सांसें सहेजती है।

'सनेही' जी के साथ कवि-सर्जक आचार्यों की पीढ़ी ही समाप्त हो गयी। दूसरों के लिए उनकी मृत्यु का दिन कितना ठंडा-अंधेरा दिन रहा होगा, पर उनकी यह पंक्ति आज भी परार्थ की वैष्णव स्वर-लहरी जैसी गूंजा करती है :

'तम-तोम का काम तमाम किया, दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूं।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं, पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूं ॥'

5

हिन्दी के आहुति-पुरुष

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन का नाम मैंने कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में (जवाहरलाल नेहरू की सर्वप्रथम अध्यक्षता में) पूर्ण स्वतन्त्रता का संकल्प किये जाने पर और उसके चार मास बाद ही 1930 के नमक सत्याग्रह के समय पढ़ा और जाना था। टंडन जी उन दिनों पंजाब नेशनल बैंक के प्रबन्धक या 'वैतनिक सचिव' थे। उन्होंने तत्काल नौकरी छोड़ दी थी और अपने गृहनगर इलाहाबाद आकर आन्दोलन में कूद पड़े थे। मैंने तब गांधी जी का एक वक्तव्य पढ़ा था—'ऐसे ही त्यागियों से राष्ट्र बनता है।'

वय से तरुण, पर समझ की दृष्टि से मेरे अधविकसे, अधकंचरे मन को गांधी जी का यह वाक्य कुछ जंचा न था। मोतीलाल नेहरू और सी० आर० दास अपनी चलती वकालत पर लात मार कर राष्ट्रीय आन्दोलन में आये थे। सुभाषचन्द्र बोस, जामिनी मोहन सेनगुप्त, विट्ठल भाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू के त्याग की चर्चा घर-घर होती थी। उनकी तुलना में गांधी जी ने एक सामान्य त्यागी व्यक्ति के लिए इतनी बड़ी बात कैसे कह दी ? पर इसके आठ वर्ष बाद मैं इलाहाबाद में आकर कई वर्ष टंडन जी के मुहल्ले अहियापुर में रहा और जब उनके स्वाभिमान से प्रोज्ज्वल कष्ट-सहन व अभाव-जनित उत्पीड़न की बातें सुनीं तब मेरी क्षुद्र समझ में आया कि ऐसे ही व्यक्तियों से राष्ट्र बनता है। चोटी पर पहुंचने की सम्भावना से भरी अपनी वकालत एक बार जो 1921-22 में इस निम्न मध्यमवर्गी जनसेवी ने छोड़ी तो फिर आजीवन उसकी ओर देखा तक नहीं। फीस न दे सकने के कारण बच्चे स्कूल से हटा लिए गए। दैनिक जीवनयापन में संघर्ष का यह हाल कि कई-कई दिनों तक उनके परिवार को अक्षरशः चने-चबेने पर निर्वाह करना पड़ा था। देशसेवा के व्रत पर कोई धब्बा न लगे इसलिए अपने मित्रों की सहायता लेने की

इच्छा को भी उन्होंने अपना अपमान माना। 'मेरा सारा परिवार भले मिट जाए पर मैं अपनी लोकसेवा का विक्रय नहीं करूंगा,' कह कर पूरे परिवार सहित कठिनाइयों और अभावों में तपते रहने वाले टंडन जी मुझे दधीचि से मिलते-जुलते जान पड़ने लगे। ऐसा व्यक्ति जब सुख-सुविधा-भरी ऊंची नौकरी से त्यागपत्र देकर फिर आर्थिक कष्टों के होमानल में कूद पड़ता है तो उसके त्याग में एक गरिमा होती है—एक भव्यता होती है—एक राष्ट्रव्यापी आलोक होता है। मैं अहियापुर के तरुण मित्रों से टंडन जी (उन दिनों विधान सभा के 'स्पीकर') के संघर्ष, तप, तेज की बातें सुनता था और मन ही मन शीष नवाता था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन से तब तक मैं किसी प्रकार न जुड़ा था। समाचार पत्रों में उसके अधिवेशनों के समाचार पढ़ता रहता था। टंडन जी को उसकी प्रेरणा और प्राणता का प्रतीक माना जाता था। सर्वप्रथम 1938 में मेरी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। मैं उन्हें भेंट करने सकुचाता, सहमता टंडन जी के क्रस्थवेट रोड वाले बंगलियानुमा आवास पर जा पहुंचा। पता लगा लिया था कि बाबू जी उन दिनों लखनऊ से प्रयाग आये हुए हैं।

अपनी बैठक में बैठे वह समाचारपत्र देख रहे थे। मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन दिनों साधारण से साधारण एम० एल० ए० से मुलाकात होने में समय लगने लगा था, पर प्रधानमन्त्री (अब मुख्यमन्त्री) से लेकर सारे मंत्रियों, सदस्यों को डांट देने वाले 'स्पीकर' से इतनी आसानी से मिल पाऊंगा यह मैंने सोचा न था। टंडन जी ने अपनी स्वाभाविक वत्सल दृष्टि से सिर से पैर तक देखा—दोनों पुस्तकों को उलटते-पुलटते हुए बोले, "आपने इनकी प्रतियां सम्मेलन के संग्रहालय में दे दीं?"

मैंने अटकते हुए कहा, "जी नहीं। अभी तो गुरुजनों और मित्रों को भेंट कर रहा हूं।'

टंडन जी ने कहा, "पहले वहां देना था। व्यक्ति से संस्था बड़ी होती है। आप कहां रहते हैं?" मैंने कहा, "अहियापुर में—गौरी पाठशाला के पास, रासी शुक्ल का मकान···मेरा सौभाग्य है कि आपके

मुहल्ले में।" टंडन जी ने इस अनावश्यक विस्तार को रोकते हुए कहा, "समझ गया—वहां किसे कहीं जानता ? आप कवि हैं—लेखक हैं। एक ही बात कहनी है। ऊंचे चरित्र वाला ही ऊंचा साहित्य लिख सकता है, और जो चरित्र को उठाये वही साहित्य है—बाकी वाक्छल है, विलास है। आज अधिकतर वही लिखा जाता है।"

कहने को तो मेरे पास भी साहित्य की इस नैतिक शुद्धतावादी मान्यता के विरुद्ध बहुत कुछ था, पर उस दुबले-पतले तेजस्वी व्यक्ति की बात काटने की हिम्मत न कर पाया। उनकी मुद्रा में ऐसी अतुलनीय निश्चयात्मक, निर्णयात्मक अडिगता थी। विश्वासों की प्रखर आंच में तपे उनके तन-मन को आत्मसंयम और आत्मबल चारों ओर एक ऐसे अदृश्य अलक्ष्य कवच में मढ़े हुए थे कि कोई असहमति वहां तक पहुंच ही न पाती—बाहर ही बाहर रह जाती। पर उनकी सादगी, साधुवत् सरलता, और सबसे बढ़ कर तरल तारकों के मोतियों के सार से भरी उनकी आंखों की ज्योति स्निग्ध मिठास भी तो थी, जो छोटे से छोटे व्यक्ति को भी किसी प्रकार का अन्तर न महसूस कराती थी। अभेद का ऐसा सहज उन्मेष मुझे आज तक अन्यत्र कहीं नहीं मिला। मैंने कहा, "फैजाबाद सम्मेलन का आपका भाषण मैंने पढ़ा है। उसमें आपने साहित्यकार के सदाचरण और चरित्र की चारुता पर ही तो बल दिया है। निवेदन केवल इतना है कि मन की स्वच्छन्द भावनाओं और दुर्बलताओं को भी तो साहित्य में अभिव्यक्ति मिले। जीवन और साहित्य दोनों में चरित्र की गरिमा से इनकार नहीं किया जा सकता। पर उसे जीवन में अनुभूत होना चाहिए—पराये उपदेशों या नीति के दोहों की दोहराहट नहीं।"

टंडन जी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए धैर्यपूर्वक मेरी बात सुनते रहे। मैं चाहता तो और भी बोल जाता। उन्होंने कहा, "यही मेरा कहना है। पहले पवित्रता को, सद्गुणों को अपने चरित्र में उतारो—ईश्वरीय ज्योति जगाओ—फिर कुछ लिखो। लेखन को धर्म मानो, व्यवसाय नहीं।"

मैं प्रणाम कर विदा हुआ। चलते-चलते फिर आदेश मिला, "पुस्तकों की प्रतियां संग्रहालय में दे देना।"

उस समय (1938 का अन्तिम माह या 1939 का आरम्भ) मैंने

सोचा भी न था कि उस 'चित्तजेत्था भयशून्य उच्च जेथा शीर' के साकार स्वरूप तपस्वी मनस्वी के साथ मुझे सम्मेलन की विभिन्न समितियों में बैठने, घंटों साथ बिताने, वादविवाद करने, लड़ने-झगड़ने का अवसर मिलेगा, जो अपनी सात्विकता, निर्भीकता और चारित्रिक विमलता के बल पर राजनीति और प्रशासन की बड़ी से बड़ी शक्ति से टकराता है।

सम्मेलन की बैठकों की अनेक जीवन्त स्मृतियां हैं जो बाबू जी के साथ बीते दिवसों की (सम्मेलन की स्थायी समिति, विश्वविद्यालय परिषद् की बैठकें अक्सर दिन-भर चलती थीं) मर्मस्पर्शी मधुर कहानी बन गयी है। उन दिनों सम्मेलन के अर्थमन्त्री का नाम भी पुरुषोत्तमदास टंडन था, जिनका उल्लेख उनके घर के नाम 'राजामुनुआ' को उनके नाम के साथ लगा कर किया जाता था ताकि बाबू जी के नाम का भ्रम न हो। एक बार स्थायी समिति की बैठक में किसी कार्यवाही के पढ़े जाने पर और उनके नाम के साथ 'राजामुनुआ' लगा न होने पर उसे जोड़ने के लिए (स्व०) बेढब जी ने कहा, " 'राजामुनुआ' हमारे अर्थमन्त्री का उपनाम है। वह कवि हैं—'बदन चोर' कवि।"

मैं अपनी समझदारी दिखाने के लिए कह उठा, "उनका उपनाम नहीं है—यह तो घर में पुकारने का नाम है।"

बेढब जी ने कहा, "नहीं, उपनाम है।"

मेरी उनकी बचकानी बहस का सब मज़ा ले रहे थे। अर्थमन्त्री किसी कार्यवश बैठक में न थे। बाबू जी ने तरल स्नेह से छलक पड़ती दृष्टि से मेरी ओर देखकर जैसे मेरी नादानी को तर करते हुए कहा, "तुम 'अंचल' हो सकते हो—वह 'राजामुनुआ' नहीं हो सकते।" सारी समिति हंसने लगी।

सम्मेलन भवन में पं० माखनलाल चतुर्वेदी के सम्मान में एक कवि गोष्ठी आयोजित थी। बाबू जी बैठे ध्यानपूर्वक प्रत्येक कवि की कविता सुन रहे थे—इतने ध्यान से कविता सुनते मैंने कम लोगों को देखा है।

चतुर्वेदी जी ने पढ़ा :

'चन्द जलें, सूरज जलें, उडुगन जलें सहास,
इनके काजल से न हो क्यों काला आकाश ?'

दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए मुदित होकर बाबू जी बोले, "बड़े दूर की कौड़ी लाये, सचमुच बड़े दूर की कौड़ी लाये :

'इनके काजल से न हो क्यों काला आकाश ?' "

एक बार भगवतीप्रसाद बाजपेयी के साथ मैं उनके पास बैठा हुआ था। बाबू जी कबीर के परम प्रशंसक थे—चर्चा चलते ही भावविभोर हो जाते थे। बाजपेयी जी ने कहा, "बाबू जी, आजकल के रहस्यवादी कवि कबीर से भी आगे बढ़ जाने का दावा करते हैं।" टंडन जी ने दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "कबीर की कविता—उसकी बात ही क्या है! न जाने किस लोक की झलक दिखाते हैं। उनकी कविता पढ़कर मन आप से आप ऊंचे—महानता के आकाश की ओर उड़ चलता है :

'मेरा-तेरा मनवां कैसे एकहोय रे !
मैं कहता हूं आंखन देखी—
तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता हूं जागत रहियो,
तू जाता है सोई रे॥
मैं कहता निरमोही रहियो,
तू जाता है मोहि रे!'

आज के रहस्यवादी पढ़कर लिखते हैं। कबीर उठते-बैठते आंखों के सामने अलौकिक ज्योति देख-देखकर लिखते थे।" मैंने कहा, "बाबू जी, लोग आपको कबीरपंथी कहते हैं। मेरा मतलब 'थियालाजिकल' नहीं है। कबीर की निर्भीकता, उनकी निश्छल, निर्मल सत्यनिष्ठा आप राजनीति में निभाते ही नहीं तपाते भी हैं।"

टंडन जी ने बेहिचक कहा, "मेरी राजनीति देशभक्ति है—पराधीनता से मुक्ति। हिन्दी को मैं राष्ट्रीयता की आत्मा मानता हूं। आत्मा ही विकृत हो गयी तो रह क्या गया? आप शरीर को सत्ता के अधिकारों से संवारा करिए, मैं आत्मा का पुजारी हूं।"

तब तक कुछ स्थानीय कांग्रेसी नेता आ गये। मैं चाह कर भी न कह पाया कि हिन्दी को हिन्दुत्व की बैसाखी की ज़रूरत नहीं है। यह भी न पूछ पाया कि सम्मेलन में और हिन्दी के पूरे आन्दोलन-प्रचार-प्रसार

में जो हिन्दू प्रतिक्रियावाद आता जा रहा है उसे क्या रोका नहीं जा सकता ?--राष्ट्र तो सभी का है—केवल संस्कृतनिष्ठता की बातें करने वालों का नहीं।

टंडन जी की राजनीति, नेतृत्व, आचार और उनके अभय के भीतर मुझे राष्ट्रीयता की आत्मा का यही बीज-अक्षर मिलता रहा है। हिन्दी के लिए उनका जीवनव्यापी संघर्ष राष्ट्र के गौरव की इसी ज्योति शिखा के चारों ओर मंडराते उनके शलभवत् जीवन का पर्याय है। नैतिकता उनकी जिजीविषा है, शुचिता उनके दिल की धड़कन है, जिसने अपनी अविराम ऊर्जा में धूमिल होना कभी जाना ही नहीं। न जाने कितने दृष्टिकोणों से उन्हें देखा गया, तरह-तरह से उन्हें गलत-सही समझा और समझाया गया। भीतर से निर्दोष, निष्काम होते हुए भी जहां-तहां वह अपने को दोषी बन जाने देते हैं—अपने को उसी दोषी रूप में प्रकट हो लेने देते हैं । उनकी राष्ट्रीयता पर, जो उनकी कभी न रुकने वाली कर्ममयी, झंकारमयी रागिनी है, चारों ओर से प्रश्नचिह्न लगने लगते हैं। पर अपने भीतर संचित आत्मत्याग के भव्य संस्कारों के कारण उन्हें जनता के सामने अपने ऋषि रूप में आ कर खड़े हो जाने में देर नहीं लगती। बड़े से बड़ा विरोध, नेतृत्व के सत्ताधीशों के साथ बड़ी से बड़ी टकराहट उन्हें झुका नहीं पाई, क्योंकि उनके निकट राष्ट्रधर्म और राष्ट्र-भाषा में अन्तर न था। हिन्दी उनकी राष्ट्र अर्चना की प्राणोपम विधा थी। उनकी समस्त राजनीति (जो अपने सर्वस्व-समर्पण में प्रजानीति बन गयी थी) इसी तत्वज्ञान से प्रेरित और प्रतिफलित थी। उनका आत्मबोध राष्ट्रबोध था।

टंडन जी की कल्पना का भारत चारित्रिक कुरूपताओं और तरह-तरह की प्रवंचनाओं में डूबे, अंग्रेजियत के 'ग्लैमर' से चकाचौंध स्वाधीन भारत से कितना भिन्न था। उनकी अहिंसक अनासक्ति, उनका आर्थिक सदाचार निस्पृहता और अपरिग्रह के बड़े से बड़े धरातल को नभतल बना देता था। सादगी, कठोर से कठोर सद्भावना और 'सन्मति' की उन जैसी नज़ीर ढूंढ़ने से नहीं मिल पाती है। धोतियों के फटने पर उनकी लुंगी, फिर अंगोछा, फिर रूमाल बना कर औसत गरीब भारतीय का जीवन

उन्होंने जिया। पैबन्दलगे कुरते और फटी-सिली धोतियां पहने हमने उन्हें जब-जब देखा तब-तब लगा कि चरित्र की शक्ति, व्यक्तित्व की शोभा किसी आवरण की मोहताज नहीं होती। कुरते फटते तो उनसे गंजियां बनतीं, गिलाफ बनते और देश की गरीबी का फटा दामन उन सीवनों से हमें झांकता दिखता। ऐसा वीतराग, ऐसा अकिंचन-व्रती, ऐसा परार्थी अध्यक्ष कांग्रेस को न कभी मिला था, न कभी मिलेगा। स्वाधीन देश द्वारा पहनाये गये उसी सर्वोच्च सम्मान को त्यागने में भी उन्हें देर न लगी। सुभाषचन्द्र बोस ने जब यह पद ठुकराया था तब उनके पीछे जाग्रत्, प्रबुद्ध बंगाल था, देश में चारों ओर फैला, असंगठित उग्र भावनाशील राष्ट्र-कर्मियों का दल था। पर टंडन जी बिलकुल अकेले थे, हमेशा की तरह मानो कबीर के दोहे को दोहराते हुए :

'लालन की नहिं बोरियां, साधु न चलें जमात।'

टंडन जी हिन्दी सीखने-सिखाने (बोलने, पढ़ने-लिखने) से आगे बढ़ कर या ऊंचे उठकर हिन्दी में जीने की दीक्षा देते थे। इसी में उन्हें मातृभूमि के साथ जन-जन का सहज रागात्मक जुड़ाव मिलता था। खोई हुई शासन-सत्ता साम्राज्यवादी शान-शौकत के साथ, मज़बूत अभेद्य नौकरशाही के साथ मिल गयी, पर वे आस्थायें नहीं लौटीं जिनकी हिमालय से लेकर सेतुबन्ध तक छा जाने की आकांक्षा भविष्य की निधि बनी हुई थी। इतने विराट महादेश की विविधता और विभक्तता में अन्तर्व्याप्त एकात्मा की अनुभूति हिन्दी में निहिति मानकर टंडन जी ने बाहर से बोलते, पर भीतर से गूंगे पड़े देश को एक नाम की परिधि में बांधने वाली जनवाणी दी। उनकी अन्तर्लालसा यही थी कि अपनी गौरवमयी अचिन्तित सांस्कृतिक जीवन्तता और धर्मनीतिक क्षेत्र के अपरिसीम अनुभव और विराट ज्ञानकोष के बावजूद हमारा अन्तःकरण पश्चिम की खाली नकल बनकर न रह जाए। हमारी निजी मनीषा और उदीषा जन्मने और पनपने के लिए छटपटाती न रह जाए। कितनी गहरी दासता है यह जो हमें स्वयं अपना नहीं होने देती—जो हमें अभी तक परायी भाषा की प्रभुता के नीचे दबाये है। इसी घातूनी लाचारी को टंडन जी ने मरणपर्यन्त सहा-भोगा और उसी को वह हमारे सहने-भोगने के लिए छोड़ गये हैं।

6
अन्तर्मंथन का मलय-केतु

घरौंदा बनाती, बरसात की नालियों में कागज़ की नावें बना-बनाकर बहाती, गेंद जैसी कूदती-फांदती आयु में मेरे भीतर कविता पढ़ने का चाव अपने पिता के काव्यधर्मी अंतरंग परिवेश से ही फूटा और फैला (बाद में फला भी) होगा ऐसा मानने के सिवाय कोई चारा नहीं है। वह स्वयं भाव-भीने कवि थे और अपने लालित्यभरे राग-बंध से सुनने वाले में भी भावना का वही अभिप्रेय जगा देते थे। मैं 'माधुरी', 'सरस्वती', 'चांद' में (तब 'सुधा', 'त्यागभूमि', 'विशाल भारत' का जन्म न हुआ था) छपी कविताएं ज़ोर-ज़ोर से पढ़ा करता था। जो पंक्ति सरल होती थी वह मेरे बालकमन को याद हो जाती थी—बाकी नाद-सौन्दर्य के काम आ जाती थीं। उन्हीं दिनों (1925) 'माधुरी' में एक कविता छपी : 'मनमीन', जिसके नीचे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नाम पहली बार पढ़ा था :

'मछली ! मछली ! जरा बता दो कितना पानी आज
देखूं कितने गहरे में है मेरा जीर्ण जहाज
मन की मछली डुबकी खाकर कह दो कितना जल है
कितने नीचे, कितने गहरे, कहां थाह का थल है ?'

कविता का बाह्यार्थ समझ में आ गया था—वह अच्छी लगती थी। लगभग दो वर्ष बाद इसी नाम से कवि के भावुक चित्र के साथ 'सुधा' के साहित्यांक में एक कविता पढ़ी : 'नौका-निर्वाण', जो और अच्छी लगी। तब तक मैं नवीं क्लास में आ गया था—मेरा रोमानी भावबोध बढ़ता जा रहा था :

'गिनता रहता हूं तारे सूनी कुटिया सोती है
ये तारे हैं अंगार या थालभरे मोती हैं
मोती की सुधि आते ही सोती पीड़ा जगती है
ग्रीवा की माल तुम्हारी हिय में डुलने लगती है

पाठ्यक्रम में इस कविता से कठिन कविताओं को समझ लेने वाला, हिन्दी में (केवल हिन्दी में) सदा सर्वोच्च अंक पाने वाला मैं 'सुधा' के इस रंगीन साहित्यांक में मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और 'नवीन' तीनों की आर्ट-पेपर पर सचित्र छपी कवितायें इतनी बार पढ़ चुका था कि वे याद हो गयी थीं। बाद में पता चला कविता में यही प्रसाद गुण कहलाता है।

अपने राष्ट्रीय ओज के लिये प्रसिद्ध कानपुर से निकलने वाला 'प्रताप' बचपन में पढ़ने को कभी मिला नहीं। लखनऊ में उन दिनों कोई हिन्दी दैनिक न था। काशी का दैनिक 'आज' घर पर आता था, क्योंकि पिताजी के लेख-कवितायें उसमें प्रकाशित होती रहती थीं। 'प्रभा' बचपन में (यदा-कदा छोड़कर) देखी हो ऐसा याद नहीं आता। और भी पत्र-पत्रिकाएं रही होंगी जिनमें 'नवीन' की कवितायें छपी होंगी। कानपुर के 'सुकवि' में तो उन दिनों कवित्त-सवैये (समस्यापूर्ति या स्वतंत्र) ही छपते थे। नये छंदों में लिखी जाने वाली कविता शायद ही उसमें देखने को मिली हो।

बहरहाल 'नवीन' का कवि-साथ एक प्रकार से छूट गया। यही दो कवितायें याद रही आईं। भावप्रवणता, रसावेग और सौन्दर्य के प्रकाश का जिस प्रकार का रागात्मक तार निराला, पन्त और गोपालशरण सिंह के साथ जुड़ता गया—'नवीन' के साथ ऐसा कुछ न हो पाया। कानपुर की चर्चा चलने पर गणेशशंकर विद्यार्थी, विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और नारायणप्रसाद अरोड़ा का ही नाम तब साहित्यिक हवा में गूंजता था। 'नवीन' का उल्लेख यदाकदा ही कहीं देखा-सुना जाता था। पिताजी, निराला जी या घर पर आते-जाते किसी साहित्यिक से भी 'नवीन' का कोई काव्यांश कभी सुनने को उन दिनों शायद ही मिला हो। पर छायावाद के समर्थन में, व्रजभाषा की स्थापित परम्परा से हटकर नूतन भावभरी-आत्माभिव्यंजक कविता के समर्थन में इधर-उधर छपते लेखों में 'नवीन' की कविता के सशक्त टुकड़े अवश्य उद्धृत किये जाते थे। मुझे वे भी याद हो गये थे। छायावादी सुकुमारता और रूप-रंजना से बिलकुल हटकर 'नवीन' की विद्रोह-भरी या मांसल प्यार की काव्यानुभूति से मेरा टूटा-फूटा परिचय इसी प्रकार बढ़ा।

'विप्लव गायन' का यह टुकड़ा मन में तभी का गड़ा पड़ा है :

'झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं इस ज्वलंत गायन के स्वर से, रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तरतर से। कण-कण में व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि; वही तान गाती रहती है कालकूट फणि की चिन्तामणि।'

मेरे जीवन की एक बड़ी घटना भगवतीप्रसाद बाजपेयी के साथ 1931 से ही शुरू हो जाने वाली मेरी पारिवारिक घनिष्ठता है। लखनऊ आने पर वह कई-कई दिन हमारे यहां ठहरते। कानपुर में 'नवीन' का उनका प्रगाढ़ साथ रह चुका था। 'नवीन' के मस्तीभरे आह्लादक संगीत-काव्य-पाठ की बातें वह मुझे बताते, उनकी सौन्दर्योपासना के प्रसंग सुनाते, उनके भीतर जलती देशभक्ति की प्रखर ज्वाला की बातें करते, और सबसे बढ़कर उसी वर्ष शहादत की वेदी बन गये गणेशशंकर विद्यार्थी के 'नवीन' पर अपरिमित स्नेह की चर्चा करते। 'नवीन' के स्वरूप, सत्याग्रही संघर्ष और त्यागी आत्मविसर्जन की अमिट रेखायें मेरे मन पर खिंचने लगीं। उदीयमानता के गर्भ से जनमने के लिये छटपटाता, लगभग तरुण हो आया मैं तब तक तीन-चार कहानियां लिख चुका था, जिनके प्रकाशित होते ही निराला, शिवपूजन सहाय (तब साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' के संपादक), चतुरसेन शास्त्री और स्वयं भगवतीप्रसाद बाजपेयी ने मुझे आशीर्वाद दिया था। 'मधुकरी' (भाग-1) में संकलित नवीन की 'गोई दीदी' कहानी मैंने उन्हीं दिनों पढ़ी तो मन मुग्ध हो गया था। उसमें मिसरी की तरह घुला-घुला भावना का मकरन्द मेरे अहसास के पोर-पोर तक छा गया था। यों तो 'मधुकरी' में संकलित कई कहानियां मर्मस्पर्शी थीं, पर इस कहानी में ढली जीवन की विषादाकुल वत्सलता एक विचित्र रस में पगी थी। शान्तिप्रिय द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'परिचय' में उनकी 'बह चली आज कैसी बयार,' 'टुक रो लेने दो जरा देर', और इतर कवितायें पढ़ीं, जिनमें एक जीवन्त वेदना का दर्दीला प्रत्यय था और जो आद्यंत 'फीलिंग' थीं।

मैं इसके बाद साप्ताहिक 'प्रताप' ढूंढ़-ढूंढ़कर पढ़ने लगा। 'विशाल भारत' और मासिक 'विश्वमित्र' में भी 'नवीन' की कवितायें पढ़ीं। न जाने क्यों प्रणय की आकांक्षा और उसकी धीमी-धीमी आंच, सुधि की सुलगन

से भरी ये कवितायें मुझे हथकड़ियों-बेड़ियों में लिखी गयी लगती थीं। इन कविताओं में दहकते दुख की तपन जब विप्लवाग्नि का, नाश भट्टी का रूप ले लेती थी तब इन हथकड़ियों का लोहा पिघलने लगता था। इस पिघलन की उत्तप्त आर्द्रता ने, गाढ़े-गाढ़े गलाव ने मुझे अनेक बार छुआ है। अपनी 6 बार की जेल-यात्राओं में वर्षों का भरा-पूरा यौवन इन्हीं हथकड़ियों-बेड़ियों को पहना देने वाला यह कवि मुझे आख्यानक चरित्र जैसा लगता था। याद था—बचपन में एक बार उन्हें और श्री कृष्णदत्त पालीवाल को 'माधुरी' कार्यालय में देखा था। उसे सोचकर आज 'बेधड़क बनारसी' की पंक्ति : 'मैं सुन्दर और असुन्दर दोनों साथ-साथ', जीती-जागती-सी लगती है। पर वह दस वर्ष की आयु का दूरदर्शन था। अब मैं अठारह वर्ष का तरुण था जो उनकी कविता में उमड़ते ओज-माधुर्य में, हथकड़ियों में समा न पाने वाली उनकी छटपटाहटों में डूबता-उतराता था। उस पीढ़ी के मुझ जैसे सभी अनुभूतिप्रवण युवकों का यही अंजाम रहा होगा। बिलकुल यही लगता रहा होगा कि किसी पराधीन देश की बेचैन कविता लोहे के कड़ों और तसलों में ही लिखी जाती है। इन बेड़ियों की रगड़ से आस्था के स्फुल्लिग निकलते हैं। प्राणों की आकुलता, भावों की संकुलता और उच्छ्वासों की विपुलता, अपूरित प्यार और प्यास की तीव्र कसक इन हथकड़ियों को निरन्तर मांजती हैं। राष्ट्रीयता की कत्लगाह में घर-घर देवकी की तरह हर साल अपनी नौजवान सन्तानों की कुरबानी आततायी ब्रिटिश साम्राज्यवाद को देती, गुलामी की यातना भोगती मातृभूमि की अपने आर्तनाद को पीती रहने वाली लाचारी इन हथकड़ियों को तड़काती रहती है। 'नवीन' की कविता में पूरे दशक (चौथे) मैंने यही सब सुना और भोगा है। प्रति सप्ताह 'प्रताप' का अंक खरीदता था। 'नवीन' की कविता पढ़कर नयी ऊर्जा अपने में चारों ओर स्पंदित पाता था। आडन और स्पेण्डर के साथ निराला और 'नवीन' की कविताओं से घिरा मेरा बिस्तर अस्त-व्यस्तता में सिहरता रहता था। मैं रात-रात भर इन्हीं चार के साथ सोया-जागा करता था। एक करवट अपने जगह-जगह दरके पड़े अतीत के सपने देखता हुआ तो दूसरी करवट यजुर्वेद में वर्णित (104) हज़ारों साल पहले कभी 'हरे-भरे खेतों में, गोपदचिह्नित कुटीरों में, सुन्दर

लोकगीतों से गूंजते हुए गांवों में वास करने वाली, सूर्य की किरणों के समान निष्पाप और उज्ज्वल आनन्द बिखेरने वाली, अपने देश की महान जनता के भविष्य के सपने, जो विदेशी औपनिवेशिक साम्राज्यवाद और स्वदेशी पूंजीवाद-सामन्तवाद के दोहरे शोषण में चुसते-चुसते कंकालवत् हो गयी थीं।

'विक्रम' के सम्पादक (स्व०) सूर्यनारायण व्यास ने मेरे प्रथम कविता संग्रह 'मधूलिका' की प्रशंसा में जो लेख (1938) में लिखा था वह किसी भी तरुण कवि को बिना पिये पूरा नशा दे देने के लिये काफी था। 'विक्रम' के लिये कविता की उनकी मांग बराबर बनी रहती थी। एक बार कुछ न होने पर मैंने नवीन पर एक 48 पंक्ति की कविता लिख कर भेज दी। चलचित्रों में तैरते अपने नैश-जागरण की सारी उमड़न बताते हुए मैंने अंतिम 6 पंक्तियों में लिखा था :

'यों सारी रात बिताकर मैं दिन के संघर्षों में आता
कितने अवरोधों से लड़ता, ठुकराता आगे बढ़ जाता
मुझको लगता मेरी चौड़ी छाती में पौरुष-मेरु खड़ा
मेरी बांहों में महावीर्य का जैसे एक सिन्धु उमड़ा
ओ तेजवन्त ! ओ रे दाता ! है कितना तेरा ऋण मुझ पर,
हैं पड़ी तुम्हारी कवितायें बिखरी शय्या के इधर-उधर।'

'विक्रम' के मुखपृष्ठ पर रंगीन स्याही में छपी यह कविता नवीन को कैसी लगी यह मुझे ढाई वर्ष बाद विदित हुआ जब 'नवीन' से मेरी पहली भेंट हुई। उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इलाहाबाद में (अप्रैल, 1945) हो रहा था। मैं उन दिनों उसका मन्त्री हुआ करता था। टंडन जी, निराला, सम्पूर्णानन्द, कमलापति त्रिपाठी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि अनेक नेता-साहित्यकार मंचासीन थे। अध्यक्ष डा० रामप्रसाद त्रिपाठी को जब पता चला कि 'नवीन' इलाहाबाद में हैं तो उन्हें बुलाने मुझे भेजा। रात में होने वाले कवि सम्मेलन की अध्यक्षता का आमंत्रण अपनी ओर से उन्हें साग्रह देने को कहा। मैं भाई (स्व०) श्रीकृष्णदास के साथ लूकरगंज में स्थित सरदार नर्मदाप्रसाद सिंह के बंगले, चार बजे अपराह्न उन्हें लेने पहुंचा।

'नवीन' शुभ्र खादी का जांघिया और गंजी पहने बाहर आये। श्रीकृष्णदास उनके जेल के साथी थे। मैं कानपुर में उनके घर पर भी उनसे तब तक न मिला था। श्रीकृष्णदास के मुंह से मेरा नाम निकलते ही 'नवीन' ने मेरे जुड़े हुए हाथों को अलग करते हुए हृदय से लगा लिया। बोले, "खूब लिखते हो, 'अंचल'! इतनी प्राणवान कविता—इतनी प्राणवान! पढ़कर मेरी आत्मा तृप्त हो जाती है।"

इससे पहले किसी काव्य-पुरुष ने मेरे मुंह पर प्रशंसा का ऐसा भाव-भीना वाक्य न कहा था। मैंने सकुचाते हुए कहा, "जो सब लिखता हूं वह आप कहां पढ़ पाते होंगे! अपनी कोई किताब भी तो मैं आपको कभी नहीं भेज पाया।" 'नवीन' अपने मुक्त, धवल हास्य से, अपनी प्यारभरी नम्रता से मेरी अधसहमी मुद्रा को उजागर करते हुए बोले, "तुमने मुझ पर ऐसी मनमोहनी कविता लिखी—मैं भी तो तुम्हें धन्यवाद का एक पत्र न लिख पाया।" मैंने पूछा, "आपको अच्छी लगी? मैंने सुना है आपको अपनी प्रशंसा कतई पसन्द नहीं।"

'नवीन' और ज़ोर से हंसकर बोले, "मैं मनुष्य हूं, 'अंचल'! सभी तरह की कमज़ोरियों से भरा और क्षुद्रताओं में डूबा। तुम्हारी कविता जो है वह तो बड़े से बड़े वीतराग को भी स्वयं पर मुग्ध-मोहित कर दे।"

मैंने बात टालते हुए कहा, "मेरे पांच कविता-संकलन हैं। आपकी सेवा में अर्पित करूंगा। उन्हें पढ़कर कुछ कहिएगा। अभी तो आप तैयार हो जाइये। हमारे अध्यक्ष डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने आपसे तत्काल पधारने को कहा है। आपको भाषण देना है—रात के कवि सम्मेलन में अध्यक्षता करनी है। मेरी याद में पहली बार हम युवा कवियों को आपके सम्मुख कविता पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होगा।"

सरदार नर्मदाप्रसाद सिंह का मैंने तब तक नाम ही सुना था। पर उनकी साहित्यिकता से परिचित था—पत्र-पत्रिकाओं में उनके छन्द पढ़े थे। 'नवीन' से वह बोले, "जाओ बेटा! रात-भर के लिये फुरसत है। तुम्हारे प्राण भी तो कवि सम्मेलन में बसते हैं।" फिर मेरी ओर देखकर श्रीकृष्णदास बोले, "यह 'अंचल' जी हैं।"

मैं बोला, "केवल 'अंचल' हूं—'जी' नहीं। 'जी' हमने आप जैसे अंग्रेज़ों

के लिए आरक्षित कर रखा है।" श्रीकृष्णदास जी ने कहा, "सुन लीजिये। आप लोग अक्सर कहते हैं—हम 'प्रगतिशील' अविनीत होते हैं।"

'नवीन' तैयार होकर बाहर निकल आये। उनके संगीत अकादमी हाल में आते ही मंच पर ज़िन्दगी बरसने लगी। हिन्दी-हिन्दुस्तानी का तीव्र विवाद चल रहा था। हिन्दी के एक और सशक्त समर्थक का आना टण्डन जी और सम्पूर्णानन्द जी को बड़ा अच्छा लगा। 'नवीन' का भाषण मैंने पहली बार सुना—पहली बार किसी वाग्मी को मंच पर पूरा घूम जाते (परिक्रमावत्) देखा। मेरी यह पहली भेंट थी, अपने प्रिय कवि से, जो स्वाधीनता की निर्णायक लड़ाई लगभग तीन साल जेल में रह कर उन्हीं दिनों छूटा था—जो रसास्वादन से आगे बढ़कर कविता में आत्मा की तृप्ति तलाशता था।

उस दिन से लेकर उनके मरण के दस-पन्द्रह दिन पूर्व तक 'नवीन' से मेरी अनेक बार भेंट हुई थी। यदि दिल्ली में रहकर नौकरी करने की इच्छा होती—राजधानी का 'ग्लैमर' होता, 'कैरियरिज़्म' की अफसरी साध होती तो उनका न जाने कितना सान्निध्य पाता। अपने अन्य साहित्यिक बन्धुओं की तरह इस दिशा में यदि उनसे संस्तुति और सहायता की याचना करता तो खाली न जाती। पर मैं उनके प्रति अहेतुक भाव लिये ही अनुरक्त रहा आया। दिल्ली का दरबारी जीवन साल में दो-तीन बार जाने और दो-चार दिन भोगने तक ही मुझे बरदाश्त था। इसलिए दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद आकाशवाणी द्वारा आयोजित कवि सम्मेलनों में ही अधिकतर 'नवीन' से मिलना होता था। दिल्ली में उनके निवास पर प्रत्येक दिल्ली-यात्रा में कम से कम एक बार मैं उदयशंकर भट्ट के साथ या अकेला जाता था—अधिक से अधिक उनके पास बैठने की इच्छा लिये हुए। उनसे मेरी भेंट अनेक बार मैथिलीशरण जी गुप्त के आवास पर (जो राज्यसभा के सदस्य हो जाने पर दिल्ली के सारे साहित्य-जगत् के 'दद्दा' बन गये थे)अनौपचारिक गोष्ठियों में हो जाती थी जिनमें पन्त, नरेन्द्र, 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, दिनकर के साथ मैं भी घण्टों बैठता था—कविता सुनता-सुनाता था। उन दिनों (1952-57) दिल्ली में मैं गुप्त जी के आवास के निकट ही अपने अनुजवत् प्रिय छात्र(स्व०)सुशील-

कुमार पटरैया के आवास पर ठहरा करता था जो लोकसभा सदस्य थे। सुबह 8-9 बजे मैं गुप्त जी के यहां पहुंचकर वह सब देखता जो उन दिनों स्वाधीनता के प्रभात में बड़ा अजीब लगता था—यद्यपि अब चारों ओर राजनीति की शक्ति से भरे साहित्य के शलाका-पुरुषों के प्रति वही अवसरी दरबारी निष्ठा देखते-देखते उसका अभ्यस्त हो गया हूं। पहले चौंकता था—अब मेरी चेतना में कोई कंपकंपी नहीं होती। गुप्त जी के दरबार में केशवदास के 'राज' से भी अधिक रोबदाब, अदबी जगमगाहट मुझे नज़र आती थी।

उन दिनों के विद्वान सूचना-प्रसारण मंत्री डॉ० केसकर प्रत्येक आकाशवाणी कवि सम्मेलन में आते थे। आते ही गुप्त जी से 'कहो कुछ मसाला डिब्बे में है ?' कहते हुए पान मांगते थे। गुप्तजी उनसे मंच पर बैठने के लिये कहते थे—वह सौजन्यवश नीचे आगे की पंक्ति में जाकर बैठ जाते थे। 'नवीन' जी कहते थे, "अच्छा है इन सिरफिरों के बीच में तुम न बैठो। इसी में खैरियत है।" कवि समुदाय और दूर तक नीचे बैठे रसज्ञ श्रोता—सब नर-नारी हंस पड़ते। 'नवीन' की प्रशंसाभरी विनोद-उक्तियों के कारण किसी कवि का काव्य-पाठ सूखा-सूखा न जाने पाता। पन्त जी की 'काले कौवे ! कहां से चांदी की चोंच मढ़ा लाये ?' पंक्ति सुनकर एक बार 'नवीन' बोल उठे थे, "यह कविता आपने मुझ पर लिखी है।" सौम्य, सकुचाये पन्त तत्काल उसका व्यंग्यार्थ बताने लगे थे। उन दिनों आकाशवाणी 'टेपवाणी' न थी। मंच पर जो भी शब्दित होता था, प्रसारण पा जाता था। 'नवीन' का निराला जैसा 'गौरवगिरि', 'उत्तुंगकाय' व्यक्तित्व हाल के सबसे पीछे के दरवाज़े के पास से भी दिखाई देता था। उनकी गौरता का प्रकाश, भव्यता की किरणें वहां तक पहुंचती थीं। कविता सुनते-सुनते मग्न होकर वह किसी अतीन्द्रिय भावलोक में पहुंच जाते थे। जब स्वयं पढ़ते थे तब उनके तन-मन का सारा लालित्य उनकी मुखाकृति पर सिमट आता था। भावानुभूति का पूरा 'फोकस' वहीं आकर रम जाता था।

इलाहाबाद आकाशवाणी कवि सम्मेलन में एक बार (शायद 1952) आरम्भ से पहले पन्त जी ने 'नवीन' का नाम अध्यक्ष पद के लिए घोषित कर दिया। ऐसे अवसरों पर सभी लोग अपने को विनय के आवरण में

लपेट लेते हैं—सबको विनम्रता का दौरा पड़ जाता है। पर उस दिन मैंने 'नवीन' के मुख पर सच्चे संकोच, मन की सगी हिचक, ईमानदारी की सिर झुका लेने वाली जो अभिव्यक्ति देखी वह उनका नाम आते ही आंखों के सामने घूम-घूम जाती है। मुझे याद है अनुनयसिक्त कण्ठ से उनका कहना, "पन्त जी जिस कवि-सभा में मौजूद हों वहां किसी अध्यक्ष की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर गुरुजनों के आप्त आदेश शिरोधार्य करने के लिए ही होते हैं, ऐसा सोच कर मैं विवश हूं।"

जबलपुर में 'नवीन' एक बार (1952 या 53) आये और यहां कई दिन रहे। रोज़ गोष्ठी, रोज़ काव्य-चर्चा, उनकी रसधर्मिता को मुखरित करने वाला रोज घण्टों का बेहिसाब आनन्दोच्छ्वसित कलालाप। रात भीगते-भीगते रामानुजलाल श्रीवास्तव के कम्पाउण्ड में(जहां वह ठहरे थे) भवानीप्रसाद तिवारी, मैं और रम्मू कक्का (श्रीवास्तव जी) बैठ जाते। रात एक-डेढ़ बजे तक कविताएं सुनते-सुनाते। और कोई न होता—अंधेरे-उजाले में कटी-बंटी ग्रीष्म की उमसती रात 'मर्मरित आम्रवनछाया' जैसी शीतल-सहकार-श्यामल लगने लगती। कक्का की 9-10 वर्ष की सबसे छोटी बेटी अनामिका(अब सौ० अनामिका तिवारी, एम० एस-सी०, रिसर्च आफिसर, कृषि विश्वविद्यालय) को देखते ही 'अनामिका, सार्थवती बभूव' कहकर 'नवीन' को काव्योच्छ्वसित होते देख हम उनसे कालिदास की खूबियां पूछते—वह मन्दाक्रान्ता का रस बहा चलते। 'नवीन' की 'डोले वालो', 'आज यह शरदनिशा बरसे', 'कब मिलेंगे ध्रुवचरण ये', 'मैं तो सजन आ ही रही थी', 'प्रिय मैं आज भरी झारी-सी', 'मरुस्थल का मृग', 'सिरजन की ललकारें मेरी', 'पराजय गान', 'ओ हिरनी-सी आंखों वाली', 'साकी' आदि कवितायें हम रोज़ सुनते। नवीन 'प्राणार्पण' के छन्द सुनाते-सुनाते रो देते। हम तन्मय होकर उस अश्रुसिंचित मुख को देखते जो अपनी भावो-द्दीप्ति में आंसुओं से भी आगे निकल जाता था। काफी रात गये जब मैं और भवानी अपने-अपने निकटवर्ती घरों को लौटते तो रास्ते-भर हमारा बातूनी मन मूकता की सरल बाढ़ में बहता रहता। एक शब्द एक-दूसरे से न कह पाते। 'नवीन' के गालों पर बहती वे जलधारें—वैसी जलधारें अन्य किसी कवि के प्रौढ़ते गालों पर कभी कहीं तो दिखाई नहीं दीं—

कभी नहीं।

पर 'नवीन' के भीतर उमड़ते सारे जल को सूखना वदा था। उसके स्थान पर किसी रेगिस्तानी जलन को—किसी अटूट दाहकता को आकर भर जाना था। वह सचमुच कुछ ही वर्षों में ऐसे भूखे-प्यासे मृग बन गये जिसने चौमासा कभी जाना ही नहीं। जेल-यातनाओं, कष्ट-सहन, लगातार स्वप्न-भंग और राजनीति की आपा-धापी भरे स्वार्थों के कुटिल संघर्षों में जो 'नित्य मर मर कर जीवन पाता रहा है', प्रति निशीथ 'चिन्ता जर्जर भी जो नवीन बना रहा', 'दिल को मसल-मसल कर भी जो चिर रसज्ञ रहा आया' वह तेज़ी से ढहता जाता था। बातें करते-करते एक विचित्र सूनापन उनकी आंखों में आकर भरने लगा था। मान-सम्मान में डूबे, बाहर चारों ओर स्नेहियों, उपासक की सीमा तक पहुंचे संगी-साथियों, प्रशंसकों से घिरा उनका सर्वत्र आदरित, पूजित शरीर अपने भीतर एक निगूढ़ वेदना, एक तहस-नहस कर देने वाला सूनापन, एक विषैली प्रवंचना जैसे पाता रहता था। उनसे मिलने जाने पर लगता था जैसे दस-पांच मिनट बाद ही उनके मन में असहाय मरोड़, भयावह ऐंठन हो चलती थी। अपने कवि अनुजों को घण्टों छाती से सटाए बैठा रहने वाला, लासानी ममता की छलकनों से भरा यह रस-नागर किस अन्दरूनी आघात से, आत्मा के किस 'वायरस' से इतना बेचैन रहता था? 'हेमलेट' की 'मेन डिलाइट्स भी नाट, नार वोमेन' जैसी उनके भीतर की टूटन उनके पास बैठे हुए को इतनी साफ दिखाई देती थी कि उन्हें अकेला छोड़ कर चले आने, अपने उजड़ेपन में उन्हें ही रहने देने की प्रेरणा होती थी—लगता था अपनी सर्पवर्णी यातना शान्तमन भोगने देने के लिए उन्हें अकेला रहने दिया जाए :

'मैंने तोड़ा जो फुल्ल कुसुम तो क्या देखा
उसके अन्तर में एक भयंकर तक्षक है
मैंने सोचा मैंने कब ऋषि-अपमान किया
जो मुझको मिला परीक्षित जीवन-भक्षक है
मैं कितना हूं सर्वाभिभूत कुछ मत पूछो
मैं लहराता ही रहता हूं प्रत्येक घड़ी

वह तक्षक मुझसे लिपटे बैठा है ऐसे
जैसे मैं हूं चन्दन की कोई एक छड़ी।'

कवि चन्दन की छड़ी जब तक बना रहा तब तक 'यों शूलयुक्त यों अहि आलिंगित' नहीं रहा। मलय-केतु बनने पर उसे यह सर्पावेष्टन झेलना था। इसी ज़हरीली लिपट से कुछ राहत पाने कवि ने 'शेली' की 'सोल्स सिस्टर' (आत्मा की बहिन) जैसी स्मरण को पाथेय बनाने वाली बहिन को लिखा होगा :

'यह विमल तुम्हारी राखी का सुकुमार सूत्र
कारागृह में, कुटिया में या निर्जन वन में,
सब ठौर पहुंचता है दैवी वरदान रूप
भर देता है कंपन वह रज के कण-कण में।'

सत्य की रक्षा के लिए मैं कह दूं कि 'नवीन' की बहुत-सी कवितायें साधारण हैं, भले वे उनके प्रेमी हृदय की ज्यों की त्यों अभिव्यक्तियां हों। 'नवीन' का ब्रजभाषा-काव्य मुझे कभी नहीं रुचा। उनके दोहों की इतनी तारीफ की जाती है पर वे भी मुझे अधिकतर साधारण और सपाट लगते आये हैं। बीच-बीच में उनकी अशरीरी और रहस्योन्मुख हो उठने की काव्य-वृत्ति उनकी व्यापक प्रेरणा-भूमि से मेल खाती नहीं दिखती। शिल्पी का सौन्दर्य-विन्यास, बिम्बों की सघनता, अनुभूति का बेला जैसा बजता वेदना का प्रगाढ़ 'कनडेन्स्ड' घनत्व उनकी मर्मानुभूति में कम है—बहती बोलती, कहीं-कहीं सतही हो जाती तरलता ही अधिक है। पर किसी भी कवि का मान उसकी आघातमयी श्रेष्ठ कविताओं के कारण होता है, उसकी निजता के कारण होता है जो उसके जीवन-व्यापी विषाद को एक फस्ले-बहार व्यक्तित्व बना देती है। 'नवीन' की कविता में जो एक बेसंवारी, फैलती समर्पण-लालसा है—सगेपन की जीवन-शिखा है वह मुझे कवित्वमय बिजली प्रतीत होती है। अर्पण की यह आत्मीय सहजता, यह सर्वस्व-त्याग की लगन जब देश की छिनी, खोयी आज़ादी को वापस लाने वाले प्रणवीरों की राह पर चलती है तब वह संघर्ष की सर्वभुक् ज्वाला में चन्दन की चेलियां बनाती है। कवि इसी नाशक तर्जन की लहक अन्तरिक्ष तक फैला देना चाहता है ताकि आग की वर्षा हो, जलद जल जाएं और

भूधर भस्मसात् हो उठे। यही लगन जब पिया के घर जाकर उसे पलकों में मूंदती है तब वह अपनी 'वेदनादानिनि' से ऋतु-आह्वानित मयूरी जैसी उत्कंठित, पुलक-विह्वल मनुहारें करती है। कवि का मांसल माधुर्य है— हड्डी-हड्डी, मज्ज़ा-मज्जा तक उफनती यथार्थता है जो उनकी कविता को जीवन्त बनाये रहती है, न कि दस-पांच संस्कृत शब्दों में इधर-उधर छुटपुटाने वाली तथाकथित वैष्णव दार्शनिकता। भोग और भक्ति दोनों की ऐसी इतनी तीव्रता से जीने वाला कवि, संघर्ष की विदीर्णता और उन घावों को भरती जाने वाली सपनों की संपूर्ति को एक जैसी पिपासा से पीने वाला कवि अपनी दरजन दो दरजन कविताओं से ही अविस्मरणीय और अमर हो जाता है।

परछाइयों से भरे पराधीन जीवन के अंधेरे कोनों में जब अनेक कवि कल्पना की अश्रुमुखियों का सन्धान कर रहे थे तब नवीन जीवनदायी अभिलाषा के आलोकित राजपथ पर चुनौतियों की लुकाठी लेकर आये। अपने 'जाग्रत जीवन' में उन्हें 'कल्पित रूप' किंचित् नहीं भाया—भले उनके पास संस्मरणों के, कानों में गूंजते कंकन-आभरणों के खनखन स्वन को छोड़कर और कुछ न बचा रहा हो। पर इन्हीं रूपाकुल स्मरणों के सहारे 'नवीन' ने सुषमा, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और सुधि के जो चित्र दिये वे अमिट हैं। लगता है प्रणय ने उनकी सारी शक्तियों को, ऐन्द्रिय संवेदनों को तीव्र और असाधारण बना दिया था। एक ओर देश की आज़ादी के लिये विनाश की हर प्रकार की रक्त-रंजित संभावना की प्रतीक्षा करती उनकी जिजीविषा घर उजाड़ कर जेल बसाने और सर्वाहुति देने के लिए तड़प-तड़प उठती थी, तो दूसरी ओर अवनतमुखी, लज्जाललित उन्माद वाली उनकी आत्मा अपने भीतर और तन-मन के बाहर किसी अविभक्त की खोज में मंडराया करती थी—कमरे में बन्द पक्षी की तरह जो चारों ओर फड़फड़ाता है—अपने जैसे दूसरे को न पाकर अपने ही आर्त स्वरों में खो-खो जाता है। जेल में लिखी गयी 'नवीन' की सारी कवितायें 'ग़मे जाना' और 'ग़मे दौरां' के दोहरे गर्तों में एकसाथ पड़े और झेले गये उनके अशान्त मन की बिखरी उद्वेलित यादें हैं जो चांदनी रात की भीगी आंखें और कांपते स्वर लिये हुए 'सीमाब' के असीर की प्रतिच्छायाएं मुझे

प्रतीत होती हैं :

'असीरे-कुंजे-कफ़स का ये हाल है अब तो
ख़ुद अपने ज़मज़मे सुनता है, खुद फड़कता है।'

इतने बलिदान, लाखों के प्राण लेकर मिली स्वाधीनता के आने पर जिस देश को आत्मत्याग, तप और दीन-दुखी जनता की निष्काम सेवा का देवमन्दिर बन जाना था वह अगणित झाड़-फानूसों की जगमगाहट से भरा 'स्थापना' का 'हाल' बन गया; वैभव, विलास और राजदर्प से सतत गुंजित, राजमद से शराबोर। अब तक संघर्षों में जूझते रहने वाले लगभग सारे के सारे जनसेवी, स्वाधीनता संग्राम के छोटे-बड़े सैनिक-सेनानी उसका 'फर्नीचर' बनने के लिए गलाकाट होड़ लगाने लगे। राजधानियां मुखौटों की फैक्टरियां बन गईं। सेवा और विनय की दुख-दर्द-द्रवित चितवनें हुकूमती तेवरों में बदल गईं। स्वार्थ-साधकों से घिरा दिल्ली का रंगीन रेशमी जीवन 'नवीन' के लिये, उनके अनुभूतिप्रवण काव्य-सृजन के लिये बड़ा महंगा पड़ा। उनकी रचनात्मक प्रेरणाओं का सोता लगभग सूख गया था। दिल्ली की सर्वप्रभुतामयी राजनीति उन्हें असफल तनावों की कुंठा में भरमाती चली गयी। जब राजनीति देशभक्ति थी, जनपूजा और आज़ादी की उपासना की जीवन-पद्धति थी, तब उसकी प्रत्येक लहर में 'नवीन' की कल्पना, स्वभाव, शक्ति खिल उठते थे। अधिकार का 'ग्लैमर' आते ही राजनीति के सारे आदर्श नये जन्म की तमन्ना में खुदकुशी करने लगे। न जाने कितने अन्दलीब ज़ारों को उनकी हसरतों ने मिटा दिया।

बचपन से अभावों से घिरी, भिक्षान्न से पोषित 'नवीन' की देह जिस आगत के मोह में डूबी रही, जिस सुखसत्ता की कल्पना उनके भीतर स्वप्न की नदी बहाती रही वह मृगजल की तरह उनके दायरे से दूर भागा की। नपी-तुली मात्रा में मिला राजनीति का भौतिक सुख उनके भीतर आकांक्षा की परिपूर्ति के जिन अलभ्य आयामों का खाका खींचता रहा वे उनकी पहुंच के बाहर ही रहे। 'नवीन' के क्रान्तिकारी मन की भावुकता ने ज़िन्दगी को हमेशा सदाशयता और विश्वास का दस्तावेज़ माना था। पांच वर्ष तक शारीरिक, मानसिक सन्ताप भोगते-भोगते 'नवीन' ने मृत्यु का अर्थ तो पहचान लिया होगा, पर स्वाधीन भारत का उनका हर प्रकार

की चकाचौंध से वन्दित-अभिनन्दित जीवन उनके सामने शायद अपना सही-सही अर्थ न खोल पाया।

पर जो भूल 'कवि-सिडी-सयाने' 'नवीन' जैसे मुक्तप्राण ने की वह मैं अल्पप्राण इस संस्मरण में कर रहा हूं, जिसके लिखने की न सही जा सकने वाली अन्तर्पीड़ा से मैं पिछले बीस साल कतराता, भय खाता रहा हूं। जिस 'नवीन' का पूरा जीवन अव्यवस्था, अनियम के, अवसाद के बिखराव को पूजते बीता उसकी नियति में मैं शृंखला और व्यवस्था ढूंढ़ रहा हूं। समाज, शासन और साहित्य को ताउम्र चौंकाने वाली दुस्साहसिक वाणी अन्धकार को चीरने के लिए होती है, प्रकाश का शव सजाने के लिए नहीं। धूमकेतु की शिखा स्थापना के 'ड्राइंग रूम' की छवि नहीं बनाती। 'नवीन' का तेजस्वी जीवन इसी नामुराद भूमिका में तिल-तिल कर ढहने की चिरस्पंदित (बहुतों के लिए भग्न) यादगार बन गया। पहले गुलाम को गुलाम कहना, अन्याय को अन्याय पुकारना राजद्रोह था—'नवीन' राजद्रोही थे। जब स्वाधीन को स्वाधीन समझना और कहना अपराध हो गया और नौकरशाही संस्कारों की पूजा पनपने लगी तब लोभ और लाभ का वशवर्ती होना 'नवीन' के वश की बात न थी—भले वह संरक्षण के 'बाहुबल' बना दिये गये हों।'नवीन' के जीवन की सारी त्रासदी उनके इसी द्वन्द्व, द्विधा, द्वैत में शुरू और खत्म होती है। नज़रुल इस्लाम की तरह 'नवीन' ने तब तैंतीस करोड़ भूखों का कौर छीन-छीन कर खाने वालों के सर्वनाशी शोषण की कहानी अपने रक्त से लिखी। पर सुख-सुविधा के लिए स्वाधीनता के पूरे हरे-भरे जंगल को काटने वाले नये निज़ाम के प्रति नवीन की अग्नि-शिखा, स्वयं 'जगपति का टेंटुआ घोंटने वाली' दुर्धर्षता जब अपने ही भीतर छटपटाकर रह जाती थी तब नवीन के भीतर-भीतर दूर तक दरार पड़ जाती रही होगी। जो 'नवीन' संघर्षों के बीच गाय के बाड़े में जन्मा, दूसरों के घर का नाज पीस-पीस कर रोटी अर्जन करती मां की गोद में उगा और पला, जिसने कानपुर के श्रम-शोषक थैलीशाहों की आदमखोर मिलों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी क्षय का घुन खाते खपते-मरते मज़दूरों के अवाम देखे और सहे वह सम्पन्नों और विपन्नों के बीच बंटी हुई धरती और कटे हुए आकाश को देखता

या तड़क-भड़कभरी स्थापना का 'माइक' बन कर रह जाता ? 'नवीन' की आत्मा की अन्तरतली में धुंधुआने वाला यही अन्तर्संघर्ष उन्हें पांच वर्ष जीवन-मरण के उत्तेजक कथाचक्र में झुलाता रहा। अपनें चढ़ते यौवन से ही जो अविचार, उत्पीड़न, अनय, यहां तक कि प्रत्येक प्रकार के राष्ट्रीय अविवेक, के विरुद्ध जुझारू प्रेरणाओं का 'डायनेमो' बनता रहा वह असत्य को सत्य का नाम देती स्थापना और व्यवस्था के रंग-बिरंगे सभाकक्ष की आसन्दी बनकर कब तक जीता ?

7

रंग लायी थी हिना...

कानपुर ज़िले के एक साधारण ग्रामीण कृषक परिवार में जन्मे भगवतीप्रसाद बाजपेयी को चौदह वर्ष की उमर में रोजी-रोटी ले लिए जीवन के संघर्ष में उतर आना पड़ा। मिडल पास करते ही अनाथ जैसे एकाकी वह कठिनाइयों से भरे दुर्दम भरण-पोषण-पथ को पार करने के लिए के लिए गांव के प्राइमरी स्कूल में मास्टर हो गये। गांव में मन न लगने पर कानपुर आकर, किताबों के बंडल अपने सिर पर ढोकर पुस्तकालयों और पुस्तक-प्रेमी गृहस्थों के यहां फेरी लगाने लगे। और तरक्की की, तो कानपुर के होमरूल लीग वाचनालय में रजिस्टर-कीपरी करने लगे। भावुक, परदुखकातर, शुद्ध चांदी में ढला हुआ उनका उज्ज्वल प्रभामय हृदय किताबों में डूबता गया। चारों ओर साहित्यिक सरसता का वातावरण पाकर वह लेखक बन गये।

हिन्दी में मिडलची साहित्यकारों की एक लम्बी जमात 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय से लेकर 'उग्र' और भगवतीप्रसाद बाजपेयी तक फैली है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा, सशक्त शैली और रचनागत मौलिकता द्वारा हिन्दी साहित्य में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त किया है। बाजपेयी जी ने कई नौकरियां कीं। कानपुर से ही निकलने वाले 'संसार' पत्र के वह सम्पादक हो गये। वहां से प्रयाग आये, तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वैतनिक सहायक मन्त्री बना दिये गये। उनकी साहित्यिक ख्याति बढ़ती जा रही थी। पर अपने आसपास की चौहद्दी से निकल भागने के लिए उनका लेखक-मन अकुलाता रहता था। निजी प्रकाशन भी किया, पर दारागंज में बना उनका 'साहित्य मन्दिर' सात-आठ किताबें छापकर ही वीरान हो गया। यों साइनबोर्ड तो उनके मरने के बाद तक लगा रहा। न साहित्यिक पत्रकारिता उन्हें भायी, न व्यवसायी प्रकाशन। कहानी, उपन्यास लिख-लिखकर वह अपने परिवार का पालन

करते रहे। स्वतन्त्र लेखन की उत्कट प्यास उन्हें आजीवन अनुप्रेरित किये रही।

बाजपेयी जी की पहली कहानी 'यमुना' सन् 1922 में पं० द्वारका-प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'श्रीशारदा' में प्रकाशित हुई। मिश्र जी जब कानपुर में पढ़ते थे, तब बाजपेयी जी के वाचनालय में पत्र-पत्रिकायें पढ़ने प्रायः जाते थे। वहीं दोनों का परिचय हुआ, जो प्रगाढ़ होता गया। मानवीय कृतज्ञता के स्पंदित स्थायी भाव से प्रेरित बाजपेयी जी ने अपना पहला कहानी-संग्रह 'मधुपर्क' मिश्र जी को समर्पित किया—निष्काम आत्मीय आदर भाव से। 1930 के राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल में बन्द मिश्र जी को पुस्तक की पहली प्रति भेजी। बदले में आजीवन कुछ चाहा नहीं। साहित्यिकों की, मित्रों की सभी सम्भव सहायता करने के लिए तत्पर शक्तिशाली मिश्र जी से अपने बड़े संकटकाल में भी उन्होंने कभी कोई चाहना नहीं की। आज भी मिश्र जी उनकी चर्चा आने पर 'बड़े मर्द आदमी थे' कहकर उनका घने स्नेह से स्मरण करते हैं। राजनीति में अपनी मर्दानगी के लिए किसी आख्यानक चरित्र की तरह प्रसिद्ध मिश्र जी का कथन बाजपेयी जी के निरपेक्ष जीवन को, इस्पाती मनोबल को उजागर कर देता है।

बाजपेयी जी की पहली कहानी मैंने 'सुधा' में पढ़ी थी—मुश्किल से तीन पृष्ट की कहानी : 'मेरा नाता'। बारह वर्ष का मैं उसे पढ़कर कई दिनों तक विषाद से भीगा, भारी मन लिये, भीतर-भीतर सीझता रहा। मैं उनका अनुरक्त पाठक बन गया। उस समय सोच भी नहीं सकता था कि ऐसे 'मर्मस्पर्शी' रस-प्राण कथाकार के मित्र, पुत्र, अनुज, सहचर, निकटतम साथी, लंगोटिया यार जैसे सभी रिश्तों की आत्मीयता और बेतकल्लुफी का प्रसादभागी होने का सौभाग्य अपने कवि-लेखक जीवन के उषाकाल से ही मुझे प्राप्त होगा। मैं एकसाथ उनका सभी कुछ तो था! मुझे उनसे कितनी प्रेरणा, प्रोत्साहन, स्फूर्ति रूप-रंग-रस की छलक मिली है, इसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। एक युग तक मेरा विरोधी उनका विरोधी था और मेरा प्रशंसक उनका मित्र। अपने पिता के बाद सर्वाधिक संपोषण मुझे उन्हीं से मिला।

धूमकेतु की तरह प्रज्ज्वलित ज्योति-रेखा खींचने वाली प्रतिभा वाजपेयी जी में न थी—शरद्चन्द्र, 'उग्र' जैसी। वह एकान्त नदी तट पर किसी साधक की कुटिया के सान्ध्य प्रदीप बनकर जले, तो मरण के नव-प्रभात तक निर्धूम, निष्कंप गति से जलते रह गये। 'कब्रे-बेकस पर जले या शमा महफिल में रहे' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए वह सुख-दुख दोनों में एक-सा आलोक विकीर्ण करते रहे। हिन्दी के स्वर्णिम प्रगति-युग में लिखी गयी उनकी प्रायः प्रत्येक कहानी महादेवी या निराला के मुक्तक की तरह आत्मानुभूति में डूबी हुई है—दुख और कष्ट-सहन जिसके मर्म-स्थल हैं। डिकेन्स, शरद् और हार्डी की करुणा उनकी रचनाओं में भी तीव्रता की झकझोर पैदा करती है। जीवन की सतह पर से ऊपर ही ऊपर कतराकर निकल जाने वाले मनोरंजनवादियों और किस्सागो कथाकारों की पूरी जमात उनके जीवन-भर और मरने के बाद आज तक अपनी सफलता की दुहाई दे-देकर जैसे उन्हें मुंह चिढ़ाती हुई कहती है—'काश तुम भी हमारे जैसे बन गये होते! तुम्हारी रायल्टी के मोटापे के रास्ते भी चारों ओर से खुल गये होते। तुम गरीब, अविज्ञापित, निर्वासित मौत न मरते···।'

निश्छल, स्नेही, आडम्बरहीन और साहित्यिक गुटबाज़ी से दूर रहने वाला यह कलम का मज़दूर जीवनभर विपरीत परिस्थितियों और अभावों से जूझता रहा। सत्ताधारी की चाटुकारिता करने वाले, ताल्लुकदारों को पुस्तकें सर्मपित कर धन और सुविधा के लिए उनके पीछे मुसाहिबों की तरह घूमने वाले, उन दिनों की इलाहाबादी साहित्यिक 'स्नाबरी' के शलाका-पुरुषों की सारी ऐंठ और अकड़ मसिजीवी कवि-लेखकों का उपहास करने से ही जैसे अपने अहम् की गिजा पाती थी। गरीबी, अनिश्चित-अपर्याप्त आय में जीवन निर्वाह करने वाले, सृजनशील उच्चादर्शों से प्रेरित कलम के मज़दूरों के लिए उनके पास कोई संवेदना, मानवीय करुणा न थी—भले ही कुत्ते-बिल्लियों, चूहे-चिड़ियों के लिये रही हो। गरीब साहित्यिकों और कम पूंजी वाले प्रकाशकों की बस्ती दारागंज के लिए उनके पास उपेक्षा और उपहास ही था। अंग्रेज़ी शासन के सरकारी पैसे से हिन्दी के साहित्य-कारों की पुस्तकें बड़ी से बड़ी संख्या में खरीदने की ताकत रखने वाले एक

बड़े अफ़सर के वहां आ जाने के बाद ये सारे के सारे दिग्गज 'काव्य-शास्त्र-विनोद' के नाम पर दारागंज के चक्कर काटते रहते थे। बाजपेयी जी बड़े निर्लिप्त कौतुक-भाव से देखते थे—मुक्त अट्टहास के बीच एक-एक की बातें बताते थे। हम दोनों दिन-रात यही बुद्धिव्यभिचार देखा करते थे।

बाजपेयी जी की साहित्यिक प्रेरणाओं के पीछे उनके जीवन की कटुता, संघर्षों की तीक्ष्णता, पग-पग पर मिली सामाजिक उपेक्षाएं भले हों, पर वे उनकी जीवन-दृष्टि, भावना और संवेदना में कोई तिक्तता नहीं भर सकीं; उनकी हृदयहारी मिठास और सबके सुख, सबके हित के लिए अर्पित उनकी मानवी मुग्धता में कोई कड़ुवाहट नहीं घोल पाईं। व्यंग्य के द्वारा पाठक या श्रोता के मर्म को बिद्ध कर देने की कला के साथ वह कभी रसमय न हो पाये। हमारे तीखे व्यंग्य बाणों का—अक्सर असंस्कारी प्रहारों का—उत्तर वह ऐसी मुक्त खिलखिलाहट के द्वारा देते थे जो उनके अन्तर्मन की गंगोत्री को प्रकट कर देती थी—उस गंगोत्री को, जहां से सहज प्यार, आत्मीय आह्लाद और अपनी-परायी सारी जकड़नों को एकसाथ बहा ले जाने वाला मुक्त अविकल, बहाव फूटता था। उनकी हंसी निराला, प्रेमचन्द, महादेवी की निर्विकार हंसी की जाति थी—बौद्धिक अलगाव की चादर ओढ़े, केवल नपी-तुली कटी-छंटी मुस्कराहट वाले नायलोनी साहित्यकार से न झेली जा सकने वाली। मैं आज भी नहीं समझ पाता कि इतने बड़े शब्दशिल्पी के कितने भीतर से निर्भीक, निर्द्वन्द्वे आवेग का ऐसा लहरा आता था।

नैतिक और आर्थिक क्षेत्र में सर्वहारा द्वारा खेले जा रहे दुखान्त नाटक से बाजपेयी जी आजीवन भली भांति परिचित रहे। पर वह यह भी देखते थे कि हर प्रश्न के आगे समाधान है, और हर समाधान के आगे प्रश्न। न कोई प्रश्न स्थायी है, न समाधान। न कोई अवसर छोटा होता है न बड़ा। कोई परिस्थिति न दिव्य होती है, न कुटिल। न अनुकूल होती है, न प्रतिकूल। न छोटी होती है, न बड़ी। यह हम पर है कि परिस्थिति को हम किस ढंग से ग्रहण करते हैं। कोई भी आपत्ति प्रकृति के कौतुक का एक रूप होती है। पहले तो वह निर्मम जान पड़ती है, फिर धीरे-धीरे क्रम-विकास का आधार ग्रहण करती है।

भावना का रस बाजपेयी जी की पोर-पोर, मज्जा-मज्जा में बसा था।

कथा-लेखन उनका जीवन धर्म था। व्यक्ति समाज का अंग होता है, इसलिए प्रत्येक कहानी प्रकारान्तर से समाज की कहानी हुआ करती है। इनसान कुल मिलाकर नेक है—भले कुछ नासमझ हो, थोड़ा बेवकूफ हो। कोई भी संसार में बुराई की इच्छा नहीं रखता, पर भलाई को अभी और जगह बनानी है। साधारण खामोश, ज़िद्दी मन भी असीम सहनशील होकर अपराजेय होता है।

'मधुपर्क' के बाद 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'खाली बोतल', 'मेरे सपने' आदि उनके प्रसिद्ध संग्रह प्रकाशित होते गये। मैं पढ़ता था और उन कहानियों में अपनी ज़िन्दगी के तनावों, असफलताओं, विडम्बनाओं और वेदनाओं को व्यंजित और प्रतिफलित पाता था। सीधी-सादी धोती, कमीज़-कुर्ते की अधकचरी ज़िन्दगी जीने वाला, दिनों-दिनों तक पैसे के दर्शन से महरूम, लेकिन पैसा पा जाने पर जाने-अनजाने सब पर एक-समान लुटा देने वाला, अपनी पुरानी साइकल पर प्रकाशकों, पत्र-पत्रिकाओं के कार्यालयों के चक्कर काटने वाला, अस्वस्थ, कुछ-कुछ चिड़चिड़ी पत्नी से अप्राप्य स्नेह भी अपने स्नेह में जोड़ कर दोनों बच्चियों को देने वाला, जीविका कमाने के लिए कथालेखन के अतिरिक्त इतर काम (पाठ्यक्रम के संकलन, रीडर-लेखन, प्रूफरीडिंग, नाटक, संलाप आदि लिखना) करने वाला, किसी प्रकार की धन-सम्पत्ति, प्रकाशक-गद्दी की विरासत से वंचित, राजनीति की चालाकियों और चर्चाओं से दूर यह अभावग्रस्त लेखक कोमल से कोमल भावना, मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म, सुकुमार से सुकुमार तरंग को कितनी लचक और लिपट के साथ चित्रित करता है! 'मिठाईवाला', 'सूखी लकड़ी', 'आत्मघात', 'खाली बोतल', 'निंदिया लागी', 'अंधेरी रात', 'ट्रेन पर', 'हत्यारा', 'स्पर्धा' 'अशोक का घोड़ा', कितनी कहानियों के नाम गिनाये जाएं, जो हिन्दी की अमर कहानियां हैं। इसी प्रकार उनके अधिकांश उपन्यास भी अपनी जीवन्त, अविस्मरणीय चरित्र-सृष्टि के लिए प्रसिद्ध हैं।

वाजपेयी जी कला के गुण और कर्म का सामाजिक आवश्यकताओं से सीधा सम्बन्ध मानते थे। सारा समाज अपनी विषमताओं के साथ उन्हें आईने की तरह साफ दिखाई देता था। स्वप्न-जगत् के आदर्श और असंगतियों का जीवन जीने वाले यथार्थ का अन्तर उन्हें जीवित घात-

प्रतिघातों के रूप में दिखता था। अपने व्यक्ति को समाज से काटकर अलग देखना उनके लिए सम्भव न था। करुणा, दुख, निराशा के माध्यम से उन्होंने कभी आध्यात्मिक संबल नहीं मांगा। उनकी भावुकता एक ओर मनुष्य की सद्वृत्तियों पर से उनके विश्वास को डिगने नहीं देती, तो दूसरी ओर गरीबी और गरीबों से जुड़ी उनकी तीव्र संवेदना संघर्षों के प्रति आस्था को जगाये रहती है। जीवन की जड़ और चेतन दोनों रूढ़ियों की उनकी पहचान बहुत सच्ची थी।

मैं अक्सर सोचा करता हूं कि दशकों तक इतने निकट का साथ पाकर भी उनके अन्तःकरण के देवता को मैं कब पहचान पाया? उठते-बैठते धृष्टता, व्यंग्य-विनोद और उनका उपहास ही तो करता रहा। अन्य सभी जो यही करते थे, उनके साथ रसमय होता रहा। उनकी मानवी गरिमा को कभी संजीदगी से समझा ही नहीं। और, वह थे कि जीवन भर नयी और पुरानी पीढ़ी को अपनी आत्मा का सखाभाव बांटते रहे।

जीवन के आखिर तक आते-आते उनके अन्दर प्राणासव की जो तलछट बची थी, उससे भी उनका कोई स्नेही वंचित न हुआ। उनकी अंगुली पकड़कर जो साहित्य में आये वे भले उनकी उपेक्षा करते गये, पर वह उनके प्रति वैसे ही अगाध, वत्सल बने रहे। कितने रचनाकार ममत्व के इस कंगूरे को छू पाते हैं, देवल की ऊंचाई में रम पाते हैं!

कैसा संस्मरण है यह, जो मेल-मुलाकात, अंतरंग प्रसंगों की बिना किसी चर्चा के केवल आदर की अंजलि भरता जा रहा है। पर ये मेरे न वह पाने वाले आंसू हैं, जो शब्दों की विभोरता का रूप लिये ले रहे हैं और इतर बातों को ठेलकर आगे आ जाते हैं। इलाहाबाद जब कभी जाता हूं तो वे सारी सड़कें ही मेरे भीतर चलने लगती हैं, जिन पर हम दोनों घंटों साइकल पर घूमा करते थे। हम नरोत्तम नागर, रामनरेश त्रिपाठी, गणेशप्रसाद द्विवेदी, सर्वदानन्द वर्मा (सुरेन्द्र बालूपुरी भी उसी काटेज में रहते थे), श्रीकृष्णदास, वाचस्पति पाठक, नन्ददुलारे वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी, राजवल्लभ ओझा, रामकुमार वर्मा, महादेवी जी, रामनाथ 'सुमन', अनिरुद्ध पांडेय, डा० सत्यप्रकाश के यहां साथ जाते थे, घंटों बैठते थे। मैं इन सबसे छोटा था, पर पान के साथ पलाश के पत्ते की तरह वाजपेयी जी के

साथ सभी जगह स्नेह-स्वागत पाता था। दारागंज में ही पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, निराला जी, पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र, दयाशंकर दुबे, प्रभात शास्त्री, पं० रालबहोरी शुक्ल, कमला शंकर (प्रसिद्ध चित्रकार) के यहां घंटों हमारी बैठकें जमती थीं। शहर और बाहर के प्रायः सभी साहित्यकारों के दर्शन हमें अब अपने, साहित्यिक दृष्टि से हीन कहे जाने वाले, मुहल्ले में ही सरकारी कृपा से होने लगे थे। सभी जगह वाजपेयी जी के मन के अविरल माधुर्य में मेरी सिनिकल कुंठायें घुल जाती थीं। मेरे जीवन के सारे बोझिल दबावों से, अनास्था और संशय के कांटों से वह मुझे उबारते चलते थे। घर-बाहर, सस्ते-महंगे होटलों, सिनेमाघरों, प्रदर्शनियों, भरी से भरी, उजड़ी से उजड़ी महफिलों में उनका यह संस्कारी क्रम अबाध चलता था। उनके साथ रहते भर मेरा मानस क्षितिज कितना उदार, कितना बड़ा बन जाता था। अपनी लघुता को वाजपेयी जी भली भांति जानते थे, इसलिए मुझ जैसों की क्षुद्रता को वह अपने लेखन और जीवन दोनों से धो दिया करते थे। असामान्य या असाधारण बनने और दिखने के लिए शिक्षा, संस्कृति या मूढ़ अहंकार के न जाने कितने दिखावे वह चारों ओर अपनी सरल, पर तीक्ष्ण दृष्टि से देखते थे और मुझे दिखाते चलते थे।

निराशा के थपेड़े, असफलता के अनुताप और सताये जाने पर पीड़ा से रिसते आंसू वाजपेयी जी के जीवन और साहित्य में कम नहीं थे। पर व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र को परख कर और भीषण असंगतियों से उसे अविराम जूझते देखकर उनका कथा-शिल्पी उसमें बुराई की अपेक्षा भलाई ही अधिक पाता था। यह अवस्था जिसे मिल गयी वह आदमीयत के सही स्वरूप को पहचान लेता है। नैतिकता के दोषी, पतित और कुत्सित, कुरूप, पंकिल जीवन-चक्र में फंसे नर-नारी के भीतर कहीं न कहीं जो अश्रुमुखी, गोपन करुणा छिपी रहती है, विवेक की जो दुबली पतली ऊदबत्ती सुलगती है, वाजपेयी जी पहली निगाह में ही देख लेते हैं। जिस आभिजात्य, पवित्रता और संस्कारशीलता के लिबास की सफेदी में कभी कोई कमी नहीं आती दिखती, चिन्तन और आचरण के गहरे से गहरे गर्तों में छिप-छिप जाती उसकी खोट को भी वह आसानी से जान लेते हैं। केवल 'ढाई अक्षर' पढ़कर ही वाजपेयी जी प्रेम, घृणा, आसक्ति, तिरस्कार, पीड़ा के अंतरंग से

अंतरंग आशय को सही-सही पकड़ कर अपनी रचनाओं में कवित्वमय तेज़ी के साथ उजागर कर देते थे।

पर इससे क्या? वर्तमान की प्रसिद्धि और आर्थिक सफलता भविष्य के जीवन को कोई जीवन नहीं मानती। जो तत्काल फल प्रदान करे, वही आज की, किसी को न बख्शने वाली, लेखन-नियति है। वाजपेयी जी सरीखे धारा के मूल की खोज में उलटे चलने वाले इसी कठोर नियति की गजक बना करते हैं।

8

भुवनेश्वर—एक उचटती याद

भुवनेश्वर हिन्दी की उन विस्फोटक प्रतिभाओं में थे, जिनकी एक-दो रचनाओं ने ही पाठकों और साहित्य-महारथियों का ध्यान समान रूप से आकर्षित कर उन्हें चकित कर दिया था। पर मेरी-उनकी न केवल मुलाकात वरन् प्रगाढ़ परिचय उससे पहले ही लखनऊ की रंगीन सड़कों पर हो चुका था।

अमीनाबाद में कब कहां उनसे पहली बार मैं टकराया, यह तो याद नहीं आ रहा, पर सन् 1933 की ही बात है यह। उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' उन दिनों लखनऊ के प्रसिद्ध कवि थे, जिनकी रचनाएं 'सुधा', 'माधुरी' और 'सुकवि' के मुखपृष्ठ पर छपा करती थीं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में वह समान अधिकार से लिखते थे। उनके पिताजी की आयुर्वेदिक औषधियों की दुकान हम नवोदितों और साहित्यिक शावकों की प्रमुख मिलन-स्थली थी। वहीं हमारी शामें बीतती थीं। अक्सर मेरे पिताजी (स्व० मातादीन शुक्ल, सम्पादक 'माधुरी') और निरालाजी भी साथ-साथ वहां आ जाते थे। भुवनेश्वर अकस्मात् एक शाम वहीं मिल गये---कुछ ऐसे कि आजीवन मिलते ही चले गये।

हम लोगों ने अनुप्रास के लोभवश उन्हें 'भाई भुवनजी' कहना शुरू कर दिया। पर उनकी नापसन्द पर यह सम्बोधन हम लोगों ने छोड़ दिया। हाथ में कविता की कापी—काफी मोटी, जिसमें बीच-बीच में एकांकी भी गुंथे थे—उनकी और 'शा' की सूक्तियों से मंडित—वह बराबर लिये रहते थे। कविताएं छायावादी, पर बीच-बीच में चमक उठने वाले जीवन के भौतिक यथार्थों के टुकड़े। अपने में ही डूबे और डगमगाये उनके साफ-सुथरे, परिष्कृत लघु व्यक्तित्व से हम सभी लघुमानव अभिभूत थे। उनसे मिलने की उत्कंठा दिन-भर यूनिवर्सिटी में या घर पर बराबर बनी रहती थी।

भुवनेश्वर कहां ठहरे थे और कब कहां मिलते थे, यह किसी को पता न था। आवारापन उनकी सांस-सांस में बसा था। सुबह कहीं, शाम कहीं, रात कहीं—यही उनका अस्तव्यस्त जीवन-क्रम था। लगता था, किसी भरी-पूरी डाल से बिछुड़ा प्रकाश का एक बड़ा-सा पत्ता हो जो शरद, शिशिर, हेमन्त की लहराती या स्थिर हवाओं में एक-सी बेचैनी लिये डोलता-फिरता है।

उनके अध्ययन, अनुभव और संवेदना का दायरा कितना व्यापक और घना था, इसे छायावादी कुहासे से निकल भागने के लिए छटपटाता मेरा भावुक, कल्पनाशील मन समझ न पाता था। उनकी कविताएं तो कमोबेश वैसी ही थीं, जैसी उन दिनों हम लोग लिखते थे। पर उनके एकांकी और उनके 'स्केच' जीवन, भाग्य, आभिजात्य, मुखौटों से भरे समाज की विडम्बनाओं और वेदनाओं के रोमांचक दस्तावेज़ जैसे लगते थे। ऐसी जलन, ऐसी आकर्षक आंच, कुंठाओं पर ऐसे अग्निम प्रहार कि उनके एकांकी उनके मुंह से सुनते ही बनते थे। एक-एक कथ्य दिखाई न देने वाली जीवन की गहराई के साथ ऐसी जीवंत मार्मिकता से जुड़ा रहता था कि हमें जैनेन्द्र जैसे उस युग के नये लेखक भी अपनी सारी मानवीय करुणा के बावजूद ऊपर-ऊपर की सतह पर तैरकर ही निकल जाने वाले शब्द-शिल्पी मात्र लगते थे।

लखनऊ के साहित्यिक क्षितिज पर तब तक डा० रामविलास शर्मा, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र और 'प्रदीप' (प्रसिद्ध फिल्मी गीतकार) का उदय नहीं हुआ था। मेरे साहित्यिक साथियों में डा० कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, डा० रामरतन भटनागर, गिरीशचन्द्र पंत 'अनंग', लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण', हर्षवर्धन नैथाणी ही थे। हम सब निरालाजी के आस-पास मंडराते रहते थे और उनके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रेरणा पाया करते थे। उन्हीं दिनों बिहार से आकर स्व० गोपाल सिंह नैपाली 'सुधा' कार्यालय में काम करने लगे। स्व० शांतिप्रिय द्विवेदी काशी से लखनऊ प्रायः आकर हफ्ते-हफ्ते भर लखनऊ में रहते थे। यही हमारी साहित्यिक मण्डली थी।

भुवनेश्वर का अंग्रेज़ी साहित्य का ज्ञान और निर्दोष उच्चारण हमें प्रभावित करता था। उनकी अनेक सच्ची, झूठी आत्मपरिचयात्मक बातें

और खानदानियत अलग हमें रोब में लिये रहती थी। पर हमें सबसे भीतर तक छूती थी उनकी पैनी प्रतिभा और बिलकुल नई लेखन-शैली—'शा' की शैली की तरह काटने वाली। भुवनेश्वर की सारी खामियों, विकृतियों और बीमार हरकतों को हम सह लेते थे—प्यार करने की सीमा तक बरदाश्त करते थे।

सन् 1933 से लेकर 1937 तक भुवनेश्वर का मेरा करीब-करीब दैनिक साथ रहा। यदि वे लखनऊ के बाहर हुए तो बात दूसरी थी। हुसैनगंज और बाद में उसी से लगे हुए उदयगंज के मेरे घर वे आकर घंटों पड़े रहते थे। 1936 में बिना एम० ए० किए ही मैं आर्थिक कठिनाइयों के कारण यूनिवर्सिटी छोड़ चुका था। नौकरी की तलाश, केवल पिता की तनख्वाह पर चलने वाले परिवार का बोझ और फाकामस्ती का आलम। एक फड़कती हुई खुदी का नशा हमारे नाशादोनाकारा जीवन पर छाया रहता था। नित्य नये साथी बनते थे और छूटते थे—सपने पनपते थे और फूटते थे। हज़रतगंज, कैसरबाग, अमीनाबाद, हीवेट रोड और एबट रोड पर घंटों निरुद्देश्य घूम-घूमकर—एक दूसरे की रचनाओं की बखिया उधेड़ते हुए, विद्रूप-भरे उपहास से एक दूसरे को तराशते हुए हम रात को 11-12 बजे अलग होते थे। एक दूसरे के प्यार से घृणा बहाते और घृणा के भीतर पलते आत्मीयभाव को निरन्तर मांजते।

ज़िन्दगी की सड़क पर बढ़ते-बढ़ते मैं इलाहाबाद आ गया। भुवनेश्वर यहां भी मौजूद और मेरे नौकरी पा जाने पर खुश। अब अमीनाबाद की जगह चौक, एबट रोड की जगह केनिंग रोड और लखनऊ की उमेशजी की दुकान के स्थान पर दारागंज में स्व० भगवती प्रसाद वाजपेयी का मकान या अहियापुर का मेरा घर। पर हमारा सबसे बड़ा साहित्यिक अड्डा लीडर प्रेस में पं० वाचस्पति पाठक का ड्राइंग रूम था। भुवनेश्वर का एकांकी-संग्रह 'कारवां' तब तक भारती भण्डार से प्रकाशित हो चुका था। पाठकजी के सुरुचिपूर्ण बैठकखाने में लगे हिन्दी के अग्रणी साहित्यकारों के फोटो प्रतिदिन जैसे हम-जैसे छुटभैयों को अपनी औकात का बोध कराते रहते थे। भुवनेश्वर प्रगतिशील-लेखक-संघी प्रगतिशीलता के रंग में डूबे हुए और उसके घनघोर प्रचारक। पर अपनी रचनात्मक सर्जना में वैसे ही ईमानदार।

सामाजिक मुखौटेबाज़ियों, कुरूपताओं और आचरणों की 'स्मगलिंग' के विनाश के लिए वैसे ही कटिबद्ध।

भुवनेश्वर के गर्हित क्रिया-कलापों की चर्चा का अंत नहीं है; पर हममें से जिन्होंने उन्हें जाना और भोगा है, वे उनके प्रतिभा के विस्फोट को भी पहचानते थे। हम लोग उन बलवती परिस्थितियों से भी वाकिफ हैं, जिनके आगे उनका जीवन विवशता की एक दु:खद प्रक्रिया बनकर रह जाता था। उनकी अनेक विडम्बनाओं में मैं उनका सहभागी था। न जाने कितनी भूख-प्यास हमने साथ-साथ झेली थी, न जाने कितने संघर्षों से होकर गुज़रे थे। सुख, सुविधा और जीवित रहने की प्रेरणाओं को तलाशती हुई हमारी ज़िन्दगी विफलता और लाचारी की चट्टानों से टकरा-टकराकर रह जाती थी। और हम थे कि अपनी सर्जना के विश्वास का बल लिये अपनी नामुराद ज़िन्दगी साथ-साथ जीते रहे।

याद नहीं आता, सन् 1945-46 के बाद मैंने भुवनेश्वर को देखा हो। जब उनके मरने की खबर सुनी, उनकी याद में लिखा गया सुरेश अवस्थी का हृदयस्पर्शी लेख कहीं पढ़ा (और शमशेर की वैसी ही अंतरंग-अनुभूति-शून्य कविता कहीं पढ़ी), तब तक मेरी संघर्षकामी ज़िन्दगी का एक बड़ा हिस्सा मर चुका था।

जीवन की मिठास, रस, परिपूर्ति तो सभी कवि-लेखक प्राय: देख लेते हैं और उसमें डूब-डूबकर उसका आकलन करते हैं, पर जीवन की कड़वाहट, तिक्तता और उसकी जड़ों में लगे घुन जैसे ज़हर को पकड़ना तो दूर रहा, प्राय: रचनाकार उससे कतराकर निकल जाते हैं। जीवन की बुनियादों में भिदी खामोश अनैतिकता और मूल्यों की भ्रष्टता को पूरी ताकत से पकड़कर उस पर प्रहार करना और उसे शालीन नग्नता के साथ सामने रख देने की कला-क्षमता भुवनेश्वर को जैसे जन्मजात मिली थी।

तनावों से थक-थककर निढाल होते जाने वाले नर-नारियों की नियति का तीखा, जलता हुआ एहसास अपराधी रुग्णता से आक्रांत पर अपराध-भावना से सर्वथा मुक्त, अपनी खुदी में डूबे रहने वाले, हर प्रकार के चौखटे से खुली बालक की-सी निरीह आत्मा वाले उस व्यक्ति को बराबर होता रहता था। इस तीक्ष्ण, कटु सामाजिक चेतना के लिये उसे किसी

प्रमाण, सौगंध या गवाह की ज़रूरत नहीं थी। तर्क की संगति को भुवनेश्वर तीसरी श्रेणी के कलाकारों के चोर दरवाज़े की संज्ञा देते थे। वे आत्मभुक्त यथार्थों को ही लिखना चाहते थे।

अपने जीवन में घोर असंतुलित और असंयमी भुवनेश्वर अपनी रचनाओं में जिस कलाकारोचित संयम का परिचय देते हैं, उसे देखकर उन्हें निकटता से जानने वाले प्रत्येक मित्र को हैरत हो सकती है। ऐसे 'डायमंड कट' डायलाग, वर्णनों में शब्दों की ऐसी किफायतशारी छायावादी वाचालता के उस भावोच्छ्वास-भरे युग में सभी को चकित कर देती थी। कम से कम शब्दों में गहरी से गहरी मानवीय पीड़ा जगाने की, जीवन के अभ्यन्तर को देखकर उसकी चोट पर बंधी भावुकता की पट्टी को अलग कर ज़ख्म को उजागर कर देने की बेलौस, बेबाक जर्राही भुवनेश्वर को आती थी।

न जाने क्यों भुवनेश्वर को यह गिला रहता था कि साहित्य-जगत में वे अस्वीकृत होने और ठोकर खाते हुए मिटते जाने के लिए ही लेखक बने हैं। प्रेमचन्द मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते थे। उनकी रचनाओं के छपते ही उनकी सशक्त लेखनी की पहचान होने लगी थी। न जाने क्या सोचकर भुवनेश्वर ने कविता लिखना छोड़ दिया था। मैं जब उन्हें याद दिलाता था कि वे कवि भी हैं, तो हंसकर कहते थे कि कविता मैंने तुम्हारे और मजाज़ के लिए छोड़ दी है। वे कहानी, नाटक और 'स्केच' ही लिखते थे। कभी-कभी साहित्यिक टिप्पणियां भी लिखा करते थे।

आरोपित भावुकता और छद्म मुद्राओं से भरी दार्शनिकता या क्रांतिकारिता के उस युग में (जब अज्ञेय 'भग्नदूत' में संकलित सस्ती भावुकता से भरी कविताएं या 'विपथगा' में संकलित रुमानी कहानियां ही लिख रहे थे) एन्टी-रुमानियत का या विद्रोह की नारेबाज़ी का मुखौटा लगाये बिना भुवनेश्वर वर्तमान की गहरी अवज्ञा करते हुए, अपनी प्रतिष्ठा की छवि बनाना चाहते थे। उन्हें अपनी गहरी बेसरोकारी से प्रेरित और प्रसूत व्यंग्य का ही सहारा था। रूमानियत से उन्हें 'एलर्जी' थी।

भुवनेश्वर के साथ हिन्दी का कितना क्या मर गया, यह सोचने की बात कभी किसी ने अनुभव की ही नहीं। यों, उनके जीवन-काल में ही

हिन्दी नाटक का एक जानदार, जीवित बड़ा हिस्सा दम तोड़ चला था। पेशेवर एकांकीकारों ने भुवनेश्वर को भुलवाते जाने में ही अपनी ज़िन्दगी और बेहतरी देखी। यांत्रिक जीवन की दिनोदिन बढ़ती जाने वाली विभीषिकाओं का पूर्वाभास ही नहीं, नग्न रूप भुवनेश्वर को दिखाई दे भी रहा था। अपने 'तांबे के कीड़े' में एक जगह उन्होंने कहा है :

"लेकिन ये सब बेबात की बातें हैं। सभी 'न्यूराटिक' इसी तरह की बातें करते हैं। मेरी समझ में इस नाटक का लेखक 'न्यूराटिक' है। हमें जो रुचता नहीं, जो हमारे विचारों के सांचे में ढलता नहीं, उसे हम 'न्यूरोसिस' न कहें तो क्या कहें? इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है। यह हमें ख्वाहमख्वाह भ्रम में डाल रहा है।"

शायद ही किसी अन्य संवेदनशील हिन्दी रचनाकार ने अपनी नियति की कुत्सा को लेकर इतनी निष्ठुर बात लिखकर अपने को एक शुष्क और कठोर हास्य बन जाने दिया हो। यही नहीं, अपने को ही तिल-तिलकर जलाने और खपाने वाले इस अग्निकीट को भले अपनी रचनाओं से बेदर्द असंतोष रहा हो, पर वे हिन्दी-नाटक-चेतना को यथार्थता की उबलती रेत पर लाकर और झुलसते जाने के लिए छोड़कर सदा के लिए चले जाने वाले एक निर्दयी रंगशिल्पी के रूप में याद किये जाएंगे।

●उस रात पहली बार मैंने पारदर्शी दीवारों में घिरे जीवन को पृष्ठ-भूमि में चले जाते और आत्मा में शाश्वत जागती निर्लिप्त सम्बन्ध की किसी अम्लान स्मृति को भावना की अग्रभूमि में हवा से टकराये निर्मल जल की तरह कांपकर आते देखा था। जैसे वह किसी अतृप्त जादू की लावण्यमयी जीवित मिट्टी में तपती नारी न होकर एक शाश्वत मात्रा, एक अन्तहीन, निरन्तर रचना हो—अपनी जटिलता में भी संतुलित किसी ऐसे अलभ्य सपने के बीच में जागी चौंकी नींद-सी—भले ही जिस सपने को भोगने के लिए वह हर चेतन प्रयास करती रहती हो। ऊपर से देखने में पेशेवर उत्कंठाओं, व्यभिचरित थकावटों की ज़हरीली भाषा से अपवित्र समाज की 'घिन घिन' बरदाश्त करती, सन्तान के भविष्य की उज्ज्वल पराकाष्ठा में सतत टूटती भोग-विलसित नारी शरीर का अन्तर्यामी रूप और गीत के बाज़ार में जब निर्जल उपवासी रह जाता है, तब दैहिक सुख

के सारे उपकरण-अलंकरण जैसे किसी न सुनाई पड़ने वाली अदृश्य रुलाई में डूबे रहते हैं।

रात को दस बजे जब भुवनेश्वर प्रसाद ने मौलवीगंज (लखनऊ) को घर आकर पुकारा, तब मैं पढ़ रहा था। आज से पैंतालीस वर्ष पहले लखनऊ में मई की रातों में भी लू चलती थी। दो बजे के बाद कहीं ठण्डक हो पाती थी। मैं अपनी निचली छोटी छत पर पड़ा बीच-बीच में अकुलाकर पंखा झलता था—ठीक से पढ़ा न जाता था। ऐसे में अपने आवारा साहित्यिक दोस्त के साथ गर्मी के अधफुंके नैश आकाश तले खुली सड़क पर आ जाना अच्छा ही लगा।

मैं आर्थिक कठिनाई से यूनिवर्सिटी छोड़ चुका था। नौकरी की तलाश थी। दस-बारह कहानियां, उतनी ही कविताएं, लेख छप चुके थे। नवोदितों में नाम आ गया था, पर एम० ए० बटे दो या—शादीशुदा और पहली औलाद के इन्तज़ार में। भुवनेश्वर नवाब बे-मुल्क थे। बीच-बीच में पैसे-पैसे के लिए मोहताज, पर जब कहीं से रुपये-पैसे आ जाते थे तो मेरे जैसे ज़रूरतमन्द अपने कद्रदां दोस्त को कैसे भूल सकते थे। ऐसी ही वह शुभ-रात्रि थी।

कैसरबाग आकर बर्फभरी 'बियर' पीते-पीते साढ़े ग्यारह बज गए। भुवनेश्वर और मैं पूरे मज़े में आ चुके थे। आनन्द के उस द्रुत संचरण में हम दोनों अपनी बैरंग, 'नामा' के लिहाज़ से लावारिस ज़िन्दगी कुछ देर के लिए सचमुच भूल गये। न जाने किन गुस्ताख फुहारों की तेज़ संगीतमय पुकारें हमें अपने भीतर-बाहर सुनाई दे रही थीं। 'बार' में हमी दोनों बचे थे। यद्यपि 'बार' को बन्द होने की कोई जल्दी अपने तईं न थी।

नशे में (बियर के ही सही) ठिगने भुवनेश्वर कुछ और ऊंचे दिखते थे—उनकी टोपी कुछ और बांकी, गरदन कुछ और तनावदार। बाहर आकर जब नख्खाश का इक्का किया, (रिक्शे तब तक न चले थे) तो मैंने उन पर सवालिया दृष्टि डाली। भुवनेश्वर ने कहा, "चलो, तुम्हें हिना के घर ले चलें।"

मैंने पूछा, "हिना कौन है! तुम्हारी कोई नई तलाश है क्या?"

"बिलकुल नई तो नहीं है। हिना की मां शाहजहांपुर की है, सलीका-

परवरी की मिसाल···"

"तब तो आप उसके मामू हुये।"

"क्या हर्ज है? हर तवायफ की लड़की किसी न किसी की भांजी होती है।"

हिना की मां को देखकर मैं चकित हो गया। भीतर एक साफ-सुथरी चौड़ी गली में कुछ नये मकान तब तक बन गए थे। उन्हीं में से एक की किरायेदार थी। लगभग पैंतालीस वर्ष की आयु में भी उसका सम्मोहित यौवन उसकी बारहवत्तीवाली जलती आरती-प्रतिभा सी सुन्दरता का अनुगत था, पर उसका पूरा रमणीत्व श्यामलता के झीने आवरण से आच्छन्न था—जैसे कोई सांवली-सांवली पूनम हो। नाच-गानेवाले या धन्धेवाले कोठों से अलग वह घर अम्लान अग्लानि में डूबा किसी परिष्कृत सद्‌गृहस्थ के घर जैसा था। लगता था, थोड़ी देर पहले ही कोई संभ्रान्त-धनी महफिल उठी थी। सारा वातावरण सुगन्ध से भरा था, जैसे नवतपा से झुलसे दिन के बाद खुलकर बारिश हो चुकी हो। हिना की मां का चेहरा भुवनेश्वर को देखते ही निर्दोष, निर्विकार प्रसन्नता से और भी दीप्त हो उठा। किसी गहरे झरने की तरह बहती आवाज़ सुनाई दी, "कितने महीने बाद आये हो भुवन बाबू! कहीं बाहर चले गये थे। ये कौन हैं?'

भुवनेश्वर के मुंह पर गज़ब की शालीनता थी—जैसी मैंने पहले कभी देखी न थी। बोले, "एक अरसे तक शाहजहांपुर में था। ये मेरे दोस्त हैं। कवि, लेखक, सुलझे हुए, समझदार।"

तब तक हिना भी आकर बैठ गई। मां-बेटी दोनों भुवनेश्वर को देख-देखकर किसी अहेतुक, सात्विक स्नेह से सिक्त हो उठती थीं। भुवनेश्वर ने ममतालु स्वर में पूछा, "हिना! तुम्हारे परचे कैसे हुए हैं···" फिर मुझे सम्बोधित कर कहा, "हिना ने बी० ए० का इम्तहान दिया है, मॉरिस कालेज में म्यूज़िक का कोर्स भी···"

हिना की मां ने नौकर से दरवाज़ा बन्द करने और नीचे की बत्ती बुझाने को कहा। तब तक सीढ़ी पर धमधम की आवाज़ करता हुआ एक 'सूटेड-बूटेड' प्रौढ़ युवक चढ़ आया। उसकी घबराई मुद्रा को देखकर हिना की मां मुस्करा उठीं। मुझे उसकी मुस्कान कठोरतापूर्ण लगी, पर उसकी

मुस्कराहट में रहस्य की क्षीण रेखा भी थी। हम दोनों को, विशेषकर भुवनेश्वर को इतनी घरू बेतकल्लुफी से बैठा देख आगन्तुक अचकचाया, पर उसकी बेचैन लाचारी उसकी पोर-पोर से चू रही थी। संकोच में डूबे, अटकते निढाल स्वर में बोला, "मेरा एक लिफाफा परसों रात आपके यहां तो नहीं गिर गया!"

हिना की मां ने वैसी ही कौतुक भरी हंसी हंसकर कहा, "मेरे पलंग के नीचे स्टील-बाक्स में कासनी साड़ी के बीच रक्खा है।" कमर में खुंसा ताली का गुच्छा हिना को देते हुए वे फिर हंस पड़ीं। आगन्तुक का पूरा चेहरा सुख-शान्ति से भर गया--जैसे किसी अभियुक्त की रिहाई का फैसला सुनाया गया हो। वह निश्चितता की सुखद सांस ले रहा था। हिना ने लिफाफा लाकर मां के हाथ में रख दिया। मां ने उसे आगन्तुक को बढ़ाते हुए कहा, "मैंने गिन लिए थे ताकि आप बाद में रकम को बढ़ाकर न कह दें, तीन हज़ार से इतने ज़्यादा थे और हमने निकाल लिए। आप भी गिन लीजिए।"

युवक की मुद्रा इस निश्छल मज़ाक में भी मुदित न हो सकी। बोला, "कल सुबह से भटक रहा हूं। कहां-कहां नहीं पूछा। कम्पनी के रुपये थे। न भरने पर नौकरी चली जाती। आपसे पूछने आने की हिम्मत न पड़ती थी। सुबह छह बजे की गाड़ी से कानपुर लौटना है। आपका एहसान जीवन भर न भूलूंगा।"

"एहसान किस बात का···आपकी चीज़ आपको दे दी। इतनी क्यों पी लेते हो, जो ऐसी बड़ी भूल हो जाए।"

भावाभिभूत युवक ने उनके पैर पकड़ लिए। दो सौ रुपये निकालकर उनकी ओर बढ़ाए। उन्होंने अब खुलकर हंसते हुए कहा, "किसी अनाथालय को दान कर देना, यतीम दुआएं देंगे। मेरी हिना का कल्याण होगा।"

कृतज्ञ युवक चला गया। उसे लगा, हमारे वहां रहते उसका अधिक रुकना हिना की मां को अरुचिकर होगा। ऊपर छत पर हम बैठे। खरबूजे खाए। शरबत पिया। भुवनेश्वर उनसे देर तक शाहजहांपुर की बातें करते रहे, पर मैं स्वप्नाविष्ट होता जाता था। तीन हज़ार रुपये मैंने तब तक देखे न थे। सुने ज़रूर थे, क्योंकि सोलह वर्ष की हो गई तब तक कुंवारी

छोटी वहन के विवाह की बात जब घर में चलती तो मां और पिता दोनों के मुंह से सुनता—तीन हज़ार से कम में अच्छा लड़का नहीं (निराशा की गहरायी तक) मिलता। इसलिए धन के इस अंक से परिचय था। हिना की मां ने लगभग सड़क पर पड़ी मिली उसी रकम को कैसे 'सहज' निर्लोभ से त्याग दिया! ऐसा तो कहीं देखा, सुना, पढ़ा न था। मेरा रोम-रोम, शब्द-शब्द, सांस-सांस अनिर्वचनीय, ओदी, आत्मविभोर निमग्नता में समाया जा रहा था। बीच-बीच में हिना की मां ने मुझसे भी बातें कीं। हिना तो 'सुधा' का कोई अंक भी ढूंढ़ कर ले आई, जिसमें मेरा चित्र छपा था, पर मैं जैसे किसी आवेशपूर्ण धर्मग्रंथ में जी रहा था। किसी पुराण की पवित्र धड़कनें मेरी आंखों के सामने सितारों की लड़ी गूंथ रही थीं। सारी सृष्टि जैसे दोशीज़गी से जगमगाती हिना के कल्याण का मंगल कवच बन गई थी। दुबारा आने का आत्मीय आग्रह सुनते हुए हम नीचे उतरे।

लौटते समय मैंने भुवनेश्वर से कहा, "तुम्हारे बारे में मैंने बड़ी गलत बात सोची थी—वेमन से वहां गया था...तुम्हारी नाराज़गी से डरकर।"

भुवनेश्वर ने बड़ी प्यारी हंसी हंसकर कहा, "बिरादर! हम जैसे 'खाना खराब' को अब तक किसी ने सही समझा भी···।"

9

हालानल में स्वाहा

केशव पाठक को मरे चौबीस वर्ष हो गए हैं पर आज भी जबलपुर की सड़कों पर मुझे उनकी जीवनमुक्त, अपने ही में डूबती-उतराती, भग्न प्रेम और शराब के भरे-पूरे नशीले अंधकार में किसी को तलाशती मुखाकृति चलती-फिरती नज़र आती है। यहां की आकाशी शून्यता में उनकी दुःख-दाह-दग्ध वाणी की गूंज इस कदर भरी है कि उनके साथियों को अक्सर उनके जीवन-आभास मिलते रहते हैं। फिर मुझ जैसे को, जिसे उन्होंने गोद में खिलाया होगा और जिसकी काव्यानुभूतियों में उन्हें अपने ही नामुराद जीवन की सच्चाई और गहराई मिलती थी, जिसके वियोगी स्वप्नों में उन्हें अक्सर अपने ही जीवन की तलछट दिखाई दे जाती थी।

केशव पाठक मेरे पिता के प्रिय छात्रों में थे। उनकी पहली कविता 'हृदय है या है कुटिल कुठार' पिताजी द्वारा सम्पादित 'छात्र सहोदर' में छपी थी जिसे संवारते हुए पिताजी ने दो पंक्तियां बदल कर यों कर दी थीं—

प्रेमी के मदभरे नयन पर, कर न कठोर प्रहार।
टूट न जाय हार वसुधा का लुट न जाय सुख-सार।

उन दिनों (1919-22) जबलपुर में अनेक उदीयमान कवि-लेखक थे, जिनमें स्व० सूरजप्रसाद शुक्ल, स्व० मंगलप्रसाद विश्वकर्मा, पाठक जी और उनके अग्रज स्व० श्यामाकान्त पाठक प्रमुख थे। 'छात्र सहोदर' दो वर्ष निकल कर ही बन्द हो गया पर अनेक प्रतिभाओं को प्रकाश में लाकर गुलाबरत्न वाजपेयी 'गुलाब' (अपने युग के एक प्रमुख कवि जिनकी कविताओं का संकलन 'लतिका', गंगा पुस्तकमाला से छपा था, जहां से निराला का प्रतिनिधि कविता-संग्रह 'परिमल' बाद में 1929 में छपा था) की और रामधारी सिंह 'दिनकर' की पहली कविता 'छात्र सहोदर' ने ही

छापी थी। केशव पाठक के भीतर उगा कविता का बिरवा बराबर बढ़ता गया। 1925 में पिताजी 'माधुरी' के सम्पादन-विभाग में चले गए और हम लम्बे वर्षों के लिए मध्य प्रदेश से निर्वासित हो गए। पाठक जी की धुंधली-धुंधली याद मेरे हृदय में ज़रूर वहीं आई जो जबलपुर से सन् 1930 में प्रकाशित 'प्रेमा' में क्रमश: छपी उनकी अनूदित (उमर खैयाम की रुबाइयां) और स्वतंत्र कवितायें पढ़-पढ़ कर घनीभूत होती रही। 1932 में 'प्रेमा' का शृंगार-रसांक प्रकाशित हुआ। मुझे याद है, पाठक जी की लम्बी कविता 'स्मृतियां' मैंने उसमें पढ़ी थी। 'प्रेमा' के इस सरस विशेषांक की लम्बी समीक्षा 'माधुरी' में लिखते हुए मैंने पाठक जी की इस कविता की प्रशंसा की थी और उसका अन्तिम छन्द उद्धृत किया था। 'प्रेमा' को मैंने 'छात्र सहोदर' और 'श्रीशारदा' की उत्तराधिकारिणी निरूपित किया था। मैं उस समय साहित्य की कोख से जन्मने की चेष्टा कर रहा था और लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रवेश लेकर कविता, कहानी, समीक्षा के रूप में कुछ न कुछ लिखते रहने का तरुणोचित प्रयास करता रहता था।

पाठक जी से मेरी कही जा सकने वाली पहली भेंट इलाहाबाद में पं० रामनरेश त्रिपाठी के पास बैठे, उनके पुस्तक प्रतिष्ठान, हिन्दी-मन्दिर में हुई। वहां आकर जैसे ही उन्होंने त्रिपाठी जी को अपना परिचय दिया, मैंने खड़े होकर नमस्कार करते हुए उन्हें अपना नाम बताया। उसी वर्ष अपने प्रथम कविता-संग्रह 'मधूलिका' पर मुझे मध्य प्रदेश का चक्रधर पुरस्कार (तब के रामगढ़ राज्य द्वारा प्रदत्त) मिला था। पाठक जी ने भावोच्छ्वासित कण्ठ से 'अरे अंचल तुम! अंचल तुम!' कहते हुए प्रगाढ़ आलिंगन-पाश में मुझे बांध लिया जैसे बचपन से बिछुड़े पुत्र को—अनुज को कोई गले लगाकर छोड़ना चाहता ही न हो। घण्टे-डेढ़ घण्टे हम लोग उस युग के एक अग्रणी कवि, संकलनकर्ता रामनरेश त्रिपाठी के पास बैठे रहे—पाठक जी अपनी कविताएं सुनाते रहे। त्रिपाठी जी प्रभावित हुए और कविता कौमुदी के दूसरे भाग (आधुनिक कवियों वाले) के नवीन संस्करण में पाठक जी की दो कविताएं भी सम्मिलित कर ली गईं। मैं उन दिनों इलाहाबाद में भारती भवन के पास अहियापुर में रहता था।

पाठक जी ने दूसरे दिन मेरे घर आकर खाना खाया, अपनी भौजी (मेरी मां) से मिले और उन दिनों की चर्चा करते रहे जब मैं 5-6 वर्ष का था। दो दिन तक घूम-घूम कर अनेक साहित्यिकों से भेंट की, काव्यचर्चाएं हुईं। पाठक जी मुझे बराबर साथ लिए रहे। उनके जैसे सहृदय का साथ मुझ जैसे के लिए कितना उल्लासप्रद था !

अगस्त 1945 में मैं राबर्टसन कालेज, जबलपुर में हिन्दी का व्याख्याता नियुक्त हो गया। पाठक जी से प्रायः रोज़ ही मिलना होने लगा। उनके जीवन के अन्तिम ग्यारह वर्षों में मैंने उन्हें और उनकी वेदनाओं को निकट से निकट क्षणों में देखा। भीतरी से भीतरी स्तर पर स्पन्दित उनकी सहज मानवता को, उससे बहते भावाकुल प्यार को जाना और पहचाना। उनके जीवन में न जाने क्या था—कितना निगूढ़ और शब्दातीत जिसे वे कह न पाते थे पर जिसे सहन न किए जाने वाले किसी असहनीय दर्द की तरह, भोग-भोग कर छीजते थे—छीज-छीज कर भोगते थे। कौन सी दाहक व्यथा थी—कौन सा मारक क्लेश था जो उन्हें तिल-तिल कर खाए जा रहा था। भरी जवानी में लगे किसी आघात ने उनकी रचनात्मक प्रेरणाओं को जला दिया था। शराब ने उनकी अंतड़ियों को चबा डाला था और उनका जीवन अग्निहोत्र बनता गया था। आयु के पचासवें वर्ष तक आते-आते वे अपनी ही पूर्णाहुति बन कर इसी हालानल में सदा के लिये स्वाहा हो गए···मजाज़ और अख्तर शीरानी की तरह।

पाठक जी जैसा राग-द्वेष, निष्कपट काव्यधर्मी, घोर से घोर मानसिक संकट में भी अडिग और आत्मविस्मृत कवि मैंने जबलपुर में दूसरा नहीं देखा। वड़े से बड़े आर्थिक अभाव में भी मैंने उनके माथे पर शिकन नहीं पाई। पर उनके भीतर कोई जिजीविषा, कोई आकांक्षा जैसे बाकी न बची थी। उनका निर्विकार और निर्द्वन्द्व हृदय केवल आत्मक्षय और आत्महनन जानता था। किसी प्रकार की कुण्ठा, कोई आत्मग्लानि, आत्म-पराभव की भावना पाठक जी को छू न गई थी। कवि तो कमोबेश सभी कविता लिखने वाले होते हैं या अभ्यास करते-करते होते जाते हैं, पर चौवीसों घण्टे, तीस दिन, बारह मास एक जैसी सुलगन, संताप, सर्वस्व-

समर्पण बहुत कम देखा जाता है। इसीलिए अनल में जल-जलकर वे आलोक में पलते रहे। अपने सदा के टूटे सपने को ज्योति-पथ में सत्य-साकार होते देखते रहे—

प्रेम के प्रासाद की संक्षेप में इतनी कथा है ।
द्वार पर दर्शन-तुषा, दीवाल में ओझल व्यथा है ।।
जान लेता मन स्वयं उस धाम जब होता पहुंचना,
जल रहा है दीप अपना ।

सचमुच वे न केवल उस धाम पर पहुंच चुके थे वरन् आजीवन वहीं निष्कम्प दीप-शिखा की तरह जला किए ।

केशव पाठक की सारी काव्य-चेतना और भावप्रवणता छायावादी है। वे उसी युग में जिये और जागे, उसी भाषा-सौष्ठव और संस्कारशीलता से गढ़े और ढले। इसलिए छायावादोत्तर पीढ़ी में उनका कोई स्थान न बन पाया। दूसरी ओर छायावाद में अनेक महान् कवि हुए जिन्होंने छायावाद को खड़ी बोली काव्य का स्वर्णिम युग बना दिया। अतः छायावाद के इतिहास में भी केशव पाठक का उल्लेखनीय स्थान न बन पाया। उनका काव्य-सृजन भी स्वल्प है और इतने कम परिमाण का कवि इस सृजन-बहुल युग में, प्रकाशन और प्रचार की स्पर्द्धाभरी दौड़ में दूर तक नहीं जा पाता। पर मनुष्य के रूप में केशव पाठक 'निराला' और 'उग्र' जैसे फक्कड़ों के विषपायी संतत्त्व से, स्वाभिमान और अपरिग्रह से जीवन्त थे। उनके द्वारा किया गया उमर खैयाम का अनुवाद यद्यपि छायावादी भाषागत प्रभावों से पूर्ण है, पर सुमित्रानंदन पंत और मैथिलीशरण गुप्त जैसे काव्य-महारथियों द्वारा किए गए अनुवाद से अधिक प्रवहमान, स्वाभाविक और स्वच्छन्द गति लिए हुए है। साथ ही, भारतीय दर्शन का गहरा रंग उसमें समाया हुआ है जो खैयाम की दार्शनिक कल्पना को और भी उजागर कर देता है।

कवि के रूप से अधिक मनुष्य के रूप में केशव पाठक की गरिमा भुलाये नहीं भूलती। नये लिखने वालों को तो वे कठोरतापूर्वक प्रोत्साहित करते ही थे, अपने समवयस्कों को भी दिल खोलकर दाद देते थे। कविता में किसी भी प्रकार का सौन्दर्य हो—भावगत, रूपगत या विचारगत—उन्हें

तत्काल आकर्षित करता था। शिल्प का रचाव हो या सूक्ति की प्राणवत्ता, बिम्बों की नवीनता हो या किसी भी प्रकार की नई-से-नई चित्रात्मकता, सब उन्हें भाती थी। उनका मन सभी के लिए खुला था और सभी प्रकार के भावानुभावों का, काव्य-रस का आस्वादक था। जबलपुर में इतना दिलदार श्रोता, इतना प्यारा कविता-प्रेमी, ऐसा अहेतुक उदार, सच्चा प्रशंसक दूसरा कोई न था। आगे के लघुमानव युग में अब क्या होगा! भैयाचारी और बैठकबाजी की क्षुद्र दलबन्दी से दूर पाठक जी सब के थे और सभी के गुण गाते थे। 'प्रेमा' के करुणरसांक (1933) में उन्होंने मेरी कविता छापी थी और उसके बाद भी बराबर छापते रहे। तब मैं एक सर्वथा नया, अचर्चित हस्ताक्षर था। बाद में तो उन्होंने अपना उन्मुक्त हृदय ही मेरे लिए खोल दिया था। घण्टों मेरे पास बैठकर या मुझे अपने पास बिठा कर रस बरसाते थे।

केशव पाठक अपरिमित सम्भावनाओं के कवि थे। अंग्रेज़ी, हिन्दी, उर्दू, फारसी का श्रेष्ठ काव्य उनकी आंखों के सामने नाचा करता था। उनकी प्रेरणाओं के स्रोत बहुमुख थे। पर अनहोनी भवितव्यता ने, किसी अत्यन्त कड़ुए अनुभव के निष्ठुर दंश ने उन्हें निकम्मा कर दिया था। ग़ालिब तो इश्क के नाम को रोते-रोते भी मरणपर्यन्त लिखते ही गए और नियति से लड़-झगड़ कर बहत्तर साल जीते रहे। पर केशव पाठक की सर्जक ऊर्जा को जैसे लकवा मार गया था। कभी कदाचित् -कोई कविता लिख गई तो लिख गई। उनके भीतर का जैसे सभी कुछ मर गया था। केवल शरीर बचा था और उसी में अटके थे उनके नितान्त एकाकी, बेचैन प्राण। उनका अपना परिवार, पत्नी, बच्चे तो थे ही···दोनों दिवंगत भाइयों के परिवार भी थे। पर सब उन्हें ज़िम्मेदार ममता-मोह के पाश में बांधने के लिए नाकाफी रहे। घर-द्वार की ज़िम्मेदारियों से दूर भागता उनका मन अपनी असफलताओं में भी मस्त रहा। क़िसी के जैसे बन जाने की स्पर्द्धा उनमें कभी नहीं जागी। वरना मध्यप्रदेश में कौन-सी दुनियावी विभूति, कौन-सा पद उनके लिए अप्राप्य था? अपने रचनात्मक मौन में अपने हृदय की सारी अशान्ति, प्राण की सारी हलचल छिपाये वे भीतर-भीतर और बाहर-बाहर टूटते गए। उनकी पंक्ति···"मौन का जब बांध

टूटेगा, घड़ी होगी प्रलय की" कभी चरितार्थ न हो पाई। यह बांध कभी-कभी 'लीक' भले कर गया हो पर निराशा की तपती मरुराशि ने उसे सोख लिया। कबीर ने यह दोहा उन्हीं जैसों के लिए लिखा होगा···

कै बिरहिन को मीच दै, कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझना, मो सौं सहा न जाय॥

10

ऐसे थे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ भी अब 'स्वर्गीय' लगाने की नई आदत डालनी पड़ेगी। जो सम्पूर्ण हिन्दी संसार की हंसती-बोलती जीती-जागती मर्यादा बनकर युग की रचनाधर्मिता पर एक गहरे श्यामल मेघ की तरह बरसने के लिए आक्षितिज छाया रहता था वह अब साहित्यिक यादगार बनकर रह गया। यही तो नियति की शृंखला है जो न टूटी है, न कभी टूटेगी।

हिन्दी में द्विवेदी जी ने कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के अंतरंग आध्यात्मिक आशय के रसमय व्याख्याकार के रूप में प्रवेश किया। वीणा, माधुरी, विशाल भारत, सुधा आदि उस दशक (1930-40) की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं में जब ये लेख छपे तो पाठकों को काव्य की सी रसदशा की जीवनदायिनी अनुभूति होने लगी। यों इसके अनेक वर्ष पहले ही निराला की पुस्तक 'रवीन्द्र कविता कानन' प्रकाशित हो चुकी थी, जिसने विश्व-कवि के महत्त्व और महानता को हिन्दी संसार में उजागर कर दिया था। निराला ने अपनी कृति में (बाद के अनेक स्फुट लेखों में भी) महाकवि के काव्य के सौन्दर्य पक्ष को ही रेखांकित किया था। पर कवि की विरहिणी आत्मा की अश्रुमुखी भुवनमोहिनी करुणा को द्विवेदी जी ने न केवल पहचाना वरन रवीन्द्रनाथ की किरणोज्वल आत्मा के पीयूष-कलश को ही जैसे सर्वजन-सुलभ कर दिया। उन लेखों में प्रकृति प्रेम और विश्वव्यापी चिर विरह की जिन मर्मानुभूतियों का उद्घाटन लेखक अपनी ललित शैली में करता था वे मन को एक भावाकुल, अनिर्वचनीय आनन्द में डुबो देती थीं। रवीन्द्रनाथ की कविता के बड़े पारखी और रसभावक निराला और हजारीप्रसाद द्विवेदी आज नहीं हैं। दोनों ने हिन्दी के पाठकों को उस विराट रूप-रंग-रसाशय का बोध कराया जो भावों की तन्मयता और अकूलता में कालातीत है।

द्विवेदी जी के कवित्वमय लेखों का अनुरक्त पाठक मैं उन्हीं दिनों से बन गया। जब 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' पढ़ा तब उनके गुरु गहन साहित्य-बोध और मौलिक चिन्तन, विशाल अध्ययन का परिचय पाकर चकित रह गया। प्राचीन साहित्य और मध्यकालीन परम्पराओं का इतना गम्भीर विवेचन, ऐसी तीक्ष्ण सामाजिक पृष्ठभूमि के साथ पहले देखने को न मिला था। संस्कृत के विद्वान् प्रायः प्रांजल, ललित, विविध छविवर्णी हिन्दी नहीं लिख पाते। पर द्विवेदी जी इसके सर्वाधिक मनोरम अपवाद थे। जो प्रवाह रवीन्द्रनाथ की 'बलाका' और 'सोनारतरी' की कविताओं में है, जो तुलसी की 'विनय-पत्रिका' के पदों में है वही द्विवेदी जी के गद्य में है। संस्कृत की शैली की जकड़न और बहुधा यांत्रिक बन जाने वाली लपेट से मुक्त उनकी भाषा अपने ढंग की अनूठी है। अलंकरण उसमें आपसे आप फूटते हैं, चित्र आपसे आप बनते हैं, बिम्ब आपसे आप उभरते हैं। संस्कृत की गरिमा हिन्दी की लचक, लोच और हिरणियों की सी चंचलता पाकर एक विचित्र मिठास में ढल गयी है।

मन में इच्छा जागती रही कि द्विवेदी जी से भेंट कैसे हो। प्रथम मेरठ साहित्य परिषद में भाग लेकर मेरे बुजुर्ग मित्र भगवतीप्रसाद वाजपेयी जब लौटकर आये (1939 का आरम्भ) तो वहां की बातें बताने लगे। पहले तो उस अवसर पर प्रायोजित साहित्यिक कवि-गोष्ठी में मेरे न पहुंचने की शिकायत—संयोजकों की निराशा—बाद में उस साहित्य प्राण परिषद की अनेक विस्तृत बातें। द्विवेदी जी के भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा। एक सप्ताह बाद ही वहां से आया फोटोग्रुप उन्होंने मुझे दिखाया। दाढ़ीमंडित द्विवेदी जी बीच में बैठे हुए थे, एक तीव्र जिज्ञासु दार्शनिक का सा स्वरूप लिये हुए। मैं मन ही मन उनकी मुखाकृति और कृतियों में दीप्त विचार-वानता की संगति बिठाने लगा।

मेरे आठ वर्षों तक इलाहाबाद रहते द्विवेदी जी वहां न आए। मेरे भी बंगाल (कलकत्ता) जाने की स्थिति न बन पायी। 1945 में जबलपुर में मैं तत्कालीन राबर्टसन कालेज में हिन्दी का व्याख्याता नियुक्त हो गया। उन्हीं दिनों विशाल भारत (या विश्वभारती) में द्विवेदी का लेख 'आलोचक की डाक' छपा। अन्य कुछ कवियों के कविता संग्रहों के साथ मेरे सर्वप्रथम

कविता संकलन 'मधूलिका' की भी उसमें चर्चा थी। मैंने इतने दिन बाद अपनी पहली किताब का 'नोटिस' लेने के लिये उन्हें धन्यवाद का पत्र लिखा। उत्तर में उनका प्यार भरा शालीन पत्र मिला। उसका एक वाक्य अभी तक याद है—आपकी नियुक्ति राबर्टसन कालेज में हुई यह वहां के विद्यार्थियों का सौभाग्य है। मुझ जैसे स्वल्पाशय व्यक्ति के लिये यह वाक्य अविस्मरणीय है।

द्विवेदी जी से पहली भेंट लखनऊ विश्वविद्यालय के रजत जयन्ती समारोह में 1949 में हुई। द्विवेदी जी को डी० लिट० की मानद उपाधि दी जानी थी। उन्हीं की अध्यक्षता में कविसम्मेलन भी था। आचार्य नरेन्द्रदेव वाइस चांसलर थे—डा० हरिकृष्ण अवस्थी कवि सम्मेलन के जोरदार संयोजक। बाहर से केवल तीन कवि—-दिनकर, सुमन, मैं—बुलाए गए थे। विशेष दीक्षांत समारोह का विशाल पंडाल खचाखच भरा था। श्रोता लखनऊ के स्थानीय कवियों को न सुनकर हमीं तीन बाहरवालों को सुनना चाहते थे। द्विवेदी जी कवि-कवि के बीच यह भेदभाव कैसे चलने देते ? जो भेद से अभेद की ओर ले जाने वाली जीवन सम्पोषक दृष्टि लेकर आया हो, वह अध्यक्ष तत्काल छात्रों की 'हूटिंग' शांत करते हुए अपने उद्बोधन में इतना रस विभोर हो गया कि हमारी ओजपूर्ण जीवंत कविताओं से अधिक करतलध्वनि उन्हें मिली। और जब हममें से प्रत्येक का उन्होंने कवि-परिचय दिया तो आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे गम्भीरोदात्तमना तक हमारी ओर मुग्ध दृष्टि से देखने लगे। श्रोताओं के अनुरोध पर द्विवेदी जी ने भी अपनी दो मौलिक और दो अनूदित कविताएं सुनाईं।

इसके बाद जबलपुर, बनारस, दिल्ली, पूना, लखनऊ, नागपुर, बम्बई—कहां-कहां उनसे भेंट नहीं हुई। पुरानी नई साहित्यधर्मिता, प्रज्ञा और परम्परा पर उनके साथ हुई चर्चाओं में कितनी ज्ञान की बातें उनसे जानने को मिलीं। ऐसे बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार दशाब्दियों में जनमते हैं। पुराने के प्रति निष्ठा और नये के प्रति आशीर्वादात्मक अनुराग उनमें कूट-कूटकर भरा था। नवीन के भीतर प्राचीन किस प्रकार न केवल जीवित रहता है वरन उसे अपने अक्षय, अनन्त भण्डार से नित्य नये होने वाले पोषक तत्त्व भी प्रदान करता है यह महासत्य द्विवेदी जी के सर्जनात्मक

और विवेचनात्मक गद्य से भली भांति कूता जा सकता है। मानव और मानव कल्याण के प्रति अगाध ममता उन्हें सच्चा मानवतावादी निरूपित करती है।

अध्ययन, अध्यापन, मनन, लेखन, साहित्य प्रणयन में द्विवेदी जी का पूरा जीवन समा गया। आत्मानुभूति, आत्मनिरूपण और आत्मविश्वास की वे प्रतिमूर्ति थे। वादों और विवादों से निर्मल, निर्लिप्त उनकी बुद्धि मानवमन की गहराई और ऊंचाई को सहज ही पहचान लेती थी। पुरानी व्यवस्थाओं के टूटने और नई की निर्मिति में वे समान रूप से विश्वास रखते थे। पर उनका मन वहीं रमता है जहां समर्पण है, समाधान है, भव्यता है, आस्था की शांति है। वे आत्माराम थे।

जबलपुर वे अनेक बार आए और यहां के विश्वविद्यालय का कोई भी आमंत्रण अपने स्वास्थ्य के गिरते जाने के पहले तक उन्होंने अस्वीकार नहीं किया। 1950 में बख्शी अभिनन्दन समारोह में वे पहली बार जबलपुर आए थे। राबर्टसन कालेज के प्रति उनका स्नेह था क्योंकि उनके अनेक प्रियजन भवानीप्रसाद मिश्र, मोहनलाल वाजपेयी, भवानीप्रसाद तिवारी, अनन्दीलाल तिवारी आदि यहीं के छात्र रह चुके थे। नागपुर उन्हें विशेष प्रिय था। भोपाल के गीतमय परिवेश की वे प्रशंसा करते रहते थे।

हिन्दी साधकों में विचारकों की कमी नहीं है। पर ऐसे विरले हैं जिनकी बुद्धि या विचारणा हृदय के द्रव में दग्ध होकर जीवन और जगत् की प्रश्नता को छेड़ती हो। एक बार मेरे मुंह से बाइरन की यह उक्ति सुनकर—जब 'पैशन' और 'फिलासफी' एक ही व्यक्ति में एकाकार होते हैं तभी एक महान कवि बनता है—वे बड़े प्रसन्न हुए थे। शायद उनकी प्रसन्नता इसी तथ्य की प्रच्छन्न स्वीकारोक्ति रही हो कि उनका महालेखक व्यक्तित्व भी तीव्र भावना और तत्त्वज्ञान के सम्मिलन से विरचित था।

11

ऐसे थे हितैषी जी

साहित्यिक होश संभालते ही मैं हितैषी जी के लुभावने संपर्क में आ गया था और उनके जीवन भर उनका प्रीतिभाजन बना रहा। उनका जुझारू व्यक्तित्व, उल्लसित फक्कड़पन, कष्ट-सहन, पहली भेंट में ही अपने हृदय में बिठा लेने वाला उनका प्यारा-प्यारा भाव-सुकोमल कवि आज जब एक टीस भरे सपने-सा याद आता है, तो मैं भीतर-भीतर आत्म विह्वल उमड़न से भर जाता हूं। ऐसा निश्छल, निर्भीक और स्नेही मन उन्होंने पाया था जो प्रत्येक क्षण मस्ती और जवांमर्दी से जगमगाता रहता था। विद्रोही गरमदल के सिपाही, ब्रिटिश शासन के दमनकारी प्रहारों के नीचे निरन्तर कुचले जाने वाले निम्नमध्य वर्गीय देशभक्तों के हुजूम के एक मौन साधक हितैषी जी, सोलह वर्ष की आयु में ही क्रान्तिकारियों की मातृवेदी नामक संस्था के कर्मठ कार्यकर्ता बन गये थे। पकड़े गये, हवालात से भागे, न जाने कितनी मार खाई और उबलती जवानी में लगभग पांच वर्ष कठोर कारावास का दण्ड भोगा। आज बात-बात में अपनी जेल यात्राओं को सरकारी कोषागारों में भुनाने वाले स्वाधीनता-संग्रामियों से वे नितान्त भिन्न थे—वणिक-वृत्ति से बिलकुल मुक्त।

1931 की बात है। लखनऊ विश्वविद्यालय के 'बेनेट' हाल में हो रहे कवि सम्मेलन में मैंने उन्हें पहली बार सुना। विश्वविद्यालय यूनियन (छात्र संघ) द्वारा आयोजित विशाल कवि-सम्मेलन था। हितैषी जी अध्यक्षता कर रहे थे। साइकिल घर में न थी। अपने घर (हुसेनगंज) से पैदल कविसम्मेलन सुनने के लिए गया था। उन दिनों जाड़ों में कवि-सम्मेलन प्रायः इतवार को, दिन में हुआ करते थे। हितैषी जी ने आत्म-परिचय देते हुए जो छंद सुनाया उसकी दूसरी पंक्ति बिजली की रेखा की तरह मेरे किशोर हृदय पर अंकित हो गयी है—"अंतिम संदेशा हूं मैं फांसी पाने वाले का औ, पुत्रशोक-पीड़ित पिता का दग्धमन हूं।"

सूली पर लटकाये जाने वाले किसी शहीद का अंतिम सन्देश उसके पिता तक पहुंचाने वाला विप्लवी हृदय ही ऐसी आघातकारी पंक्ति लिख सकता है। पूरा छन्द (मुझे याद नहीं रह गया) ऐसी ही लौ भरी भावनाओं से भरा था। लगभग छः घंटे बाद कवि सम्मेलन खत्म हुआ। हितैषी जी के दाढ़ी-मंडित कवि स्वरूप को विसूरता हुआ मैं घर लौटा।

हितैषी जी लखनऊ आते-जाते रहते थे। सनेही जी से लेकर कानपुर के प्रायः सभी प्रसिद्ध कवि—अभिराम, प्रणयेश, करुणेश, हृदयेश आदि जो कवि-सम्मेलनी मंच की शोभा बढ़ाते थे, मेरे पिता जी से मिलने हमारे घर आते थे। माधुरी के पृष्ठ सबके लिए खुले थे। मैं भी कवि बनता जा रहा था। निरालाजी, पिताजी (पं० मातादीन शुक्ल) के साथ अनेक बार सनेही जी, हितैषी से भेंट हो जाती थी। पं० सुमित्रानन्दन पंत भी काला-कांकर से आकर हफ्तों लखनऊ में अपने अग्रज के यहां माडल हाउस में रहते थे। सनेही जी और पन्त जी की शान्त शालीनता एक ओर और निराला जी और हितैषी जी का तेजतर्रार अक्खड़पन दूसरी ओर। छाया-वादी कवियों को "बंग कवियों की जूठी पत्तलें समेटने वाले" कहने वाले हितैषी जी और छायावाद के (जो उन दिनों की नव्यतम काव्यधारा थी) नवयुग-प्रवर्तन के साक्षात स्वरूप निरालाजी बहस में उग्र से उग्र रूप धारण कर लेते थे। पर तुरन्त ही बाद में वही निर्मल हृदयों का मुक्त हास्य-कल्लोल। कोई दुराव नहीं, कहीं कोई कीना नहीं, छोटापन नहीं। विशाल महानदों की तरह बहते दोनों कवि-मनीषियों के निर्विकार मन फिर ज्यों के त्यों उल्लासोच्छवसित हो उठते थे। आज भी वे प्यारे-प्यारे दिन, वे आमोदपूरित बैठकें भुलाये नहीं भूलतीं।

नयनाभिराम कलेवर में प्रकाशित हितैषी जी का पहला कविता-संग्रह 'कल्लोलिनी' जब पढ़ा, तो उनके छन्दों की संगीतमयी मादकता और सूक्तियों की सौन्दर्य-शक्ति ने मुझे भावान्दोलित कर दिया। सवैया यों भी मेरा प्रिय छंद है और बृजभाषा के इस सर्वाधिक मंजे हुए छन्द को उन्होंने कितना 'माडर्नाइज़' कर दिया है, इसे बृजभाषा काव्य का अधीत पाठक हुए बिना समझा नहीं जा सकता। यही नहीं, छायावाद की आत्मा में रस-रूप की तरह भिदा स्वच्छन्दतावाद 'कल्लोलिनी' में उसी प्रभाववत्ता

के साथ फूटा, फैला और फला है। अन्तर्प्रसून प्रेरणा और कल्पना की उड़ान में ये छन्द पल्लव (और परिमल की अनेक कविताओं) की रोमांटिक छवि से छबीले हैं। साथ-साथ हितैषी जी की ज़िंदादिली का लहज़ा अलग अपनी छटा दिखा रहा है। छायावादी छन्दों में भी हितैषी जी ने लिखा है। 'अलबेला' नाम से माधुरी में छपी उनकी कविता—'कोकिल के ये मधुरिम बोल' को पढ़कर शिवपूजन सहाय जी ने स्वसम्पादित साहित्यिक पाक्षिक 'जागरण' के होलिकांक में मज़ाक किया था—"होली है हितैषी जी की जिनकी कविता छायावादी होती जा रही है।" पर वैकाली में संकलित उनकी इस रंग में लिखी गयी कविताओं में वह बेसाख्तापन और मर्मस्पर्शिता नहीं है। कारण प्रेरणा की आत्मीयता, भीतरी सच्चाई है जो कविता को रंगीन और जीवन्त बनाती है, उसे गहरी संवेदना देती है। मैंने इलाहाबाद में यही बात हितैषी जी से कही थी तब कुछ क्षण चुप रहने के बाद उन्होंने निष्कपट स्नेह से मुझे देखते हुए कहा था—शायद तुम ठीक कहते हो। मैंने धृष्टता के साथ कहा था—पंडितजी ! शायद नहीं, हकीकतन। यह बात सन् 41-42 की है।

इलाहाबाद में मुझे हितैषी जी को बिलकुल नज़दीक से देखने का अवसर मिला। ऐसा पारदर्शी स्वभाव, हसीन, हस्सास दिल, इतनी नेक, वत्सल तबियत, हर बात में सुलझाव, स्नेह और सामंजस्य। साथ ही साथ ठेठ बैसवारी स्वाभिमान और विषम परिस्थितियों, अभावों से सीधे टकराने का बुलन्द हौसला। निराला के संघर्षशील संस्कार उनमें भी ज्यों के त्यों उतर आये थे। विपत्तियों, आर्थिक संकटों में कभी झुके नहीं और न किसी राजा-रजवाड़े, सेठ-साहूकार से कोई याचना की। निराला तो जीवन मुक्त थे—अवधूत। पर हितैषी जीवन-जगत और गृहस्थ-परिवार से जुड़े रह कर भी कभी किसी राजाश्रय के रवादार नहीं हुए। राजनीति का, नेताओं की खुशामद और सरकारी सम्मानों का न उन्होंने सहारा लिया और न नित्य नयी-नयी सुविधा की बैसाखियों का उपयोग किया।

हितैषी जी को मैंने कभी अनमना और उदास नहीं पाया। उनके पास बैठते ही जैसे आप से आप ताकत मिलने लगती थी। छोटों को हार्दिक प्रेम से हृदय लगाते और बड़ों को शीश नवाते उन्हें देखते ही बनता था।

मेरे मिलते ही वे खिल जाते थे—अन्तस्तल का प्यार आंखों से झांक-झांक जाता था। कविता के सम्बन्ध में मेरी उनकी मान्यताएं भिन्न थीं। भाव, भाषा, विषय, शैली, सभी में अलगाव। पर मेरी दरजनों कविताओं की प्रशंसा उन्होंने कोल्ड प्रिन्ट में पढ़कर (सुनकर नहीं) मेरे कवि साथियों के सामने मुक्तकंठ से की थी। मुझे निरन्तर प्रोत्साहित किया था। अनेक वार उनके साथ यात्रा करने का सौभाग्य मुझे मिला—उनके वोल-वोल में स्पंदित मानवता देखने को मिली। उम्र में इतने बड़े, ज्ञान, यश, चरित्र, त्याग और संघर्षशीलता सभी में इतने बड़े; पर अन्तरंग से अन्तरंग परिहास और व्यंग-विनोद में डुवा देने वाले बेबाक और बेलौस।

उन दिनों मुझ जैसा नया साहित्यकार उनके जैसे स्थापित रससिद्ध-कवि की निकटता, प्रशंसा और स्नेह-संरक्षण पाकर कितना सुख-विभोर हो उठता था, इसे आज के परद्रोही युग में, स्पर्धा और जलन के साहित्यिक माहौल में समझा ही नहीं जा सकता।

हितैषीजी पहुंचे हुए व्यंग्यकार थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक प्रसंग मुझे सुनाया था। वे कलकत्ता में वर्षों रहे थे। 1921 के असहयोग आन्दोलन में विप्लवी बंगाल की विशाल हड़ताल में पकड़े जाकर ही उन्हें डेढ़ वर्ष का पहला कारावास मिला था। बंगला धाराप्रवाह बोलते थे। प्रान्तीय शासन-सत्ता प्राप्त होने पर 1937 में बंगाल में कृषक प्रजा पार्टी का पहला मन्त्रिमण्डल फजलुल हक के नेतृत्व में बना था। मुख्य-मन्त्री (उन दिनों प्रधानमन्त्री) फजलुल हक बंगाल के प्रमुख अकांग्रेसी मुस्लिम नेता थे। विधानसभा में किसी विरोधी प्रश्न का उत्तर देते-देते वे अत्यन्त भावावेश में बोल गये—"आमार नाम फजलुल हक, आमी फजलुल हक, आमी सदैव हक बोल बो—अन्य काछू नाय। हक आमार जीवनेर आधार, आमार प्राणेर प्राण" आदि। संयोग से हितैषी जी उस दिन बंगाल विधानसभा की दर्शक-दीर्घा में उपस्थित थे। फजलुल हक के राजनैतिक जीवन से पूर्वपरिचित तो थे ही। उन्होंने तत्काल एक शेर लिखकर किसी एम०एल०ए० के हाथ फजलुल हक के पास भिजवा दिया—

"क्या है हक, क्या हर किसी अहमक से पूछा चाहिये ?
हक तो ये है, चल के फजलुलहक से पूछा चाहिये।"

फजलुल हक साहब ने 'लंच ब्रेक' में उन्हीं एम० एल० ए० महोदय द्वारा हितैषी जी को बुलवाया। देर तक सौहार्द्रपूर्ण बातें करते रहे। यह बताना भी नहीं भूले कि उनके पूर्वज हिन्दू थे। हकपरस्ती उन्हें अपने हिन्दू संस्कारों से ही विरासत में मिली है।

दूसरी ओर उनकी गंभीर दार्शनिकता के रंग में डूबी हुई कविताएं-हैं जो 'दर्शना' में संकलित हैं। यहां लिखना अप्रासंगिक न होगा कि पदमसिंह शर्मा जैसे फारसी उर्दू के असाधारण आचार्य हितैषी जी को हिन्दी का रूमी और हाफिज मानते थे। संसार में असारता, द्वैताद्वैत, आधुनिक विज्ञान का अनीश्वरवाद की ओर मुड़ते जाना, भौतिक चकाचौंध की प्रखरता, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और मुक्ति के मार्ग का निरूपण, षडदर्शन का निष्कर्ष, सभी कुछ तो इन छन्दों में झलकता है। केवल एक छंद दे रहा हूं—

मठ में घटाकाश रहा जलविन्दु, भी सिन्धु के संतरणों में रहा,
वन देह से प्राण समीर चला, नभ के नव संस्करणों में रहा।
लय ज्योति में ज्योति हुई वृथा, नाम लिखा हुआ संस्मरणों में रहा।
तन धूलि के आवरणों में रहा, मन मोहन के चरणों में रहा॥

प्रकृति की यह प्रभाती तो अंग्रेज़ी हिन्दी स्वच्छतावादी काव्य में भी वेजोड़ है, बिम्बों की रूपवानता यहां देखते ही बनती है—

रवि-रत्न किरीट धरे द्युति कुन्तलों की नवनीधरों पै लिए।
श्रुति भार 'हितैषी' स्ववादित, वीण, का किन्नरों से भ्रमरों पै लिए।
उतरी पड़तीं नभ से परी-सी, मनो स्वर्ण प्रभात परों पै लिए।
किरणों के करों, सरों के जलजात उषा की हंसी अधरों पै लिए।

हितैषी जी ने साहित्य को कभी व्यापार नहीं बनाया। अधिकांश गांधीवादी कवि लेखकों की तरह मुखौटे नहीं लगाए। सरकारी आश्रय के लिए तरसने वाले, राज्यसभा, विधान-परिषदों की सदस्यता के लिए अपने को बेच देने वाले हिन्दी के अनेक बड़बोले, आत्मदंभी साहित्यकारों की तरह 'रामाय स्वस्ति' 'रावणाय स्वास्ति' की रट नहीं लगाई। शायद इसीलिये अपनी जवानी देशपूजा के यज्ञ में आहुत कर उन्होंने राजनीति से अलविदा कह दिया। और कुछ न कर यदि वे कानपुर में एक बड़ा प्रकाशन

गृह ही खोल लेते तो प्रतिवर्ष उनका भी स्मृति-दिवस मनाया जाता। पर साहित्य की दूकानदारी और पक्षधरता की जगह उन्हें लोहे की दुकान अधिक ईमानदारी की जान पड़ी। शायद यह लौह कर्म उनके इस्पाती मनोवल से अधिक मेल खाता रहा हो।

घनाक्षरी सवैया में प्रायः कवि की वाग्धारा अन्तिम चरण में चमकती है। पर हितैषी जी के अधिकांश अनुभूतिप्रधान या सूक्ति-सौन्दर्य-प्रधान छन्दों का प्रत्येक चरण अपनी चारुता लिये है। ठीक जिस प्रकार कवि के जीवन का प्रत्येक चरण अपनी स्वतन्त्र चेतना की दीप्ति से उजागर है। देश की स्वाधीनता के लिए अपनी आयु के—यौवन के उषाकाल से ही आतंकवादी संघर्ष में पुलिस के जुल्मों का शिकार और जेलों में जवानी होमने वाला भावुक कवि ज़िन्दगी भर सृजन और श्रम का प्रेरणा-स्रोत बना रहा। उनके जीवन का अन्तिम चरण भी श्रम और रचनाधर्मिता की दोहरी गरिमा से आभावान है, स्थापना के वड़े हाल में सरकारी साँस्कृतिक फरनीचर बनने के लिए अकुलाते, छीना-झपटी से लेकर हर प्रकार की दुरभिसन्धियों में डूबे आज के हम जैसे कवि, लेखक दम तोड़ते मूल्यों को छोड़कर केवल कीमतों के पीछे लपकते हैं। आत्मदान नहीं, आत्मस्वार्थ हमारा धर्म वन गया है। न जाने क्यों, ऐसे में हितैषी जी की याद आ-आकर मुझसे यह सब लिखवाए जा रही है···

12

बैरिस्टर आलोचक

पंडित ब्रजकिशोर चतुर्वेदी से मेरा परिचय पत्र-व्यवहार द्वारा सम्भवतः सन् 1943-44 में उन दिनों हुआ था जब 'हिन्दी कवियों की काव्य-भाषा' शीर्षक उनकी आलोचनात्मक लेखमाला इन्दौर की 'वीणा' में अविकल रूप से प्रकाशित हो रही थी। इस लेखमाला के एक ही दो लेख पढ़कर मैं न केवल प्रभावित हुआ वरन् लेखक के पास अपनी तब तक प्रकाशित पहली तीन-चार कविता पुस्तकें उनके अवलोकनार्थ भेजने की इच्छा भी मन में जाग्रत हुई। उनका जो स्नेह मुझे परिचय के प्रारम्भ में मिला वह आजीवन बढ़ता गया। 'वीणा' का नियमित कवि मैं अपने रचना-काल के आरम्भ से ही था। प्रायः प्रतिमास स्व० चतुर्वेदीजी का लेख हिन्दी के किसी न किसी अग्रणी कवि की भाषा के गुण-दोषों के विवेचन को लेकर प्रकाशित होता था। मैथिलीशरण गुप्त, निराला, प्रसाद, पन्त आदि की भाषा की समीक्षा में इतनी निर्भीकता, शब्द-शिल्प मर्मज्ञता, शब्दों की अर्थव्यंजक प्रवणता, पद-लालित्य और कवि द्वारा व्यवहृत शब्दों की अर्थ-गत चारुता और नाद-सौन्दर्य की ऐसी तीव्र संचेतना इसके पहले मुझे हिन्दी आलोचना में नहीं मिली थी। स्व० चतुर्वेदीजी के लेखों में स्व० पदमसिंह शर्मा जैसी सतही शब्द-परख न थी या शब्दों के कलाकारोचित प्रयोग को लेकर व्यक्त की जाने वाली वह सस्ती भावुकता भरी प्रशंसापूर्ण उच्छवास-विह्वलता न थी जो उनके द्वारा रचित बिहारी सतसई के संजीवन भाष्य में मिलती है। वैसे निरालाजी के लेखों में विशेषकर उनके द्वारा लिखी गयी 'पल्लव' की लम्बी आलोचना में कवि के शब्द प्रयोगों का मार्मिक विवेचन भी पहले पढ़ा था। परन्तु चतुर्वेदीजी के लेखों में व्याप्त उनकी पैनी शब्द परख और भाषागत कौशल (क्रैफ्ट्समैनशिप) के अन्त-र्परीक्षण की बात कुछ और थी। इस बीच में मुझे टी०एम० इलियट का एक कविता संग्रह भी पढ़ने को मिला था, जिसे उन्होंने एजरा पाउन्ड को

समर्पित किया है और उसे अपने से श्रेष्ठ क्राफ्ट्समैन माना है। काव्य में शब्द-शिल्प कारीगरी मात्र नहीं है। वह उसके अंतरंग आशय को किस प्रकार प्राणवत्ता प्रदान करता है, यह भलीभाँति समझ में आने लगा।

मुझे स्मरण है मधूलिका, अपराजिता, किरण-वेला और करील की प्राप्ति स्वीकृति के साथ चतुर्वेदीजी ने मुझे जो पत्र लिखे थे वे उनकी निष्कपट उदाराशयता के प्रतीक थे। मुझे ऐसा लगा था कि उस समय तक मेरी कविता पुस्तकें पढ़कर अथवा पत्र-पत्रिकाओं में स्फुट कविताएं पढ़कर चतुर्वेदीजी मेरी कविता; विशेषकर काव्य-भाषा के संबंध में अपनी पर्याप्त धारणा बना चुके थे। यही नहीं, छायावादोत्तर कविता के विवेचन में मेरे साथ उल्लेख्य अन्य नये कवियों की भाषा की ओर भी उनकी आलोचक दृष्टि जा चुकी थी। अपने प्रथम पत्र में ही उन्होंने हम सबका उल्लेख करते हुए हमारी काव्य-भाषा को सराहा था और बड़ों की बात खत्म हो जाने पर हमारे काव्य-प्रयोगों और शब्द-शिल्प पर सम्यक् दृष्टिपात करने का आश्वासन दिया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने इसे पूरा किया—जैसा कि उनकी पुस्तक 'आधुनिक कविता की भाषा' में संकलित अनेक लेखों को पढ़ने से विदित हो जायगा।

इसके बाद चतुर्वेदीजी के साथ मेरा पत्र-व्यवहार चलता रहा। 1945 में मैंने अपने प्रथम उपन्यास 'चढ़ती धूप' की प्रति उन्हें भेजी। मुझे विश्वास न था कि उसे पढ़कर वे न केवल प्रसन्न होंगे वरन् उपन्यास के दो प्रमुख पात्रों के नाम पर 'ममता और मोहन' शीर्षक देते हुए प्रशसात्मक लेख भी उन दिनों दिल्ली से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'नवयुग' में लिखेंगे। मैंने भ्रमवश उन्हें काव्य-पारखी ही मान रखा था। उपन्यास उनके जैसे गम्भीर, काव्य-तत्वनिष्ठ आलोचक को रुचते होंगे ऐसा मैंने नहीं सोचा था। वे उन दिनों ग्वालियर राज्य में गृह एवं शिक्षा सचिव के पद पर थे। मेरे कवि मित्र शिवमंगलसिंह सुमन वहां के तत्कालीन विक्टोरिया कालेज में हिन्दी के व्याख्याता थे। उन्हें ग्वालियर राज्य ने शोध छात्रवृत्ति देकर दो वर्ष के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय भेज दिया था। फलस्वरूप कालेज में व्याख्याता का एक पद 'सुमन' के अवकाशकाल में रिक्त था। चतुर्वेदीजी ने मुझसे पूछा था कि यदि मैं वहां आना चाहूं तो वे उस दिशा

में प्रयत्न करें। पर इसके दो मास पूर्व ही मेरी नियुक्ति जबलपुर के रॉबर्टसन कालेज में हिन्दी के व्याख्याता के रूप में हो चुकी थी। मैंने उन्हें लिखा कि मैं जबलपुर में नियुक्ति पा चुका हूं और लोक सेवा आयोग द्वारा मेरा चयन भी हो चुका है अतएव मैं उनकी कृपा का आभार मानते हुए भी अपना गृहनगर छोड़कर ग्वालियर न आ सकूंगा। चतुर्वेदीजी मेरे जीवन के स्थिरीकरण के समाचार से परम प्रसन्न हुए और मेरे शिक्षक जीवन की सफलता के लिए बहुत-बहुत शुभकामनाएं प्रेषित कीं। साहित्यिक मित्रों और गुरुजनों के पत्रों के संचय की प्रवृत्ति न होने से चतुर्वेदीजी के दर्जनों पत्र आज मेरे पास नहीं हैं, जिनमें उन्होंने समय-समय पर अपने सुविचार व्यक्त करते हुए मुझे न केवल सत्परामर्श दिया था वरन् साहित्य, विशेषकर काव्य के सम्बन्ध में अपनी औदात्यपूर्ण मान्यताएं स्पष्ट की थीं।

चतुर्वेदीजी के दर्शन का प्रथम सौभाग्य मुझे 1955 के दिसम्बर मास में प्राप्त हुआ। उन दिनों वे इन्दौर में हाईकोर्ट के जज के पद पर आरूढ़ थे। स्वाधीनता के पूर्व वे 'चैम्बर आफ प्रिन्सिस' के संयुक्त सचिव के पद को भी सुशोभित कर चुके थे, पर इधर वर्षों से वे न्यायाधीश ही थे। मैं आकाशवाणी द्वारा आयोजित कवि सम्मेलन में आमंत्रित था। अपराह्न जब उनके बंगले पर पहुंचा तब वे बाहर धूप में बैठे दो-तीन स्वजनों से वार्तालाप कर रहे थे। मेरा परिचय पाकर अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—मैं आपके आने की सूचना पा चुका हूं और आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा हूं। घंटों उनके पास बैठा रहा। उसके बाद कुछ अन्य कवि मित्र आ गये और हम सब सरस काव्य-चर्चा में डूबे रहे। उनकी मुखाकृति में दृढ़ता और मृदुता का अद्भुत मेल था। ब्रज भाषा काव्य एवं काव्य-संस्कृति के परम प्रेमी होते हुए भी खड़ी बोली की कविता के प्रति उनकी असाधारण रुचि और आलोचनात्मक पैठ थी। प्रायः संध्या हो जाने पर ही हम उनके पास से उठ सके। दूसरे दिन आने का भी प्रगाढ़ आमंत्रण हमें मिला।

इसके कुछ महीनों बाद ही राज्यों का पुनः संगठन हुआ और वर्तमान मध्यप्रदेश की रचना हुई। जबलपुर में हाईकोर्ट की स्थापना का निर्णय लिया गया। नवम्बर 1956 के एक या दो दिन बीतते ही मुझे चतुर्वेदीजी

का पत्र मिला कि वे जबलपुर में आकर रहेंगे। आगमन की तिथि दी गयी थी और उसी दिन रेस्ट हाउस आकर मिलने का निर्देश भी। मुझे अब जबलपुर में ही उनसे निरन्तर मिलने-जुलने का सुयोग प्राप्त होने लगा। बाद की उनकी स्मृतियां मधुरता और विषाद से ओतप्रोत हैं। वे केवल दो-ढाई वर्ष ही इस संसार में रह सके।

उनके जीवन के इन अंतिम ढाई वर्षों में मुझे उन्हें अत्यन्त निकट से देखने, जानने का अवसर मिला। वे पुराने रॉबर्टसन कालेज के प्राचार्य के बंगले में आ गये थे, पर उनके जीवन काल में मुझे एक ही बार वहां जाने की स्थिति आयी। इसके बाद तो उन्होंने कह दिया—इतनी दूर आपको यहां बस पर आने की आवश्यकता नहीं—मैं ही आपके यहां आया करूंगा। चित्रा (उनकी सुपुत्री— अब डा० कुमारी चित्रा चतुर्वेदी, व्याख्याता राजनीति विज्ञान) को लेने होम साइंस कालेज तक जाता हूं, आपके घर या आपकी भाषा अनुसंधान संस्था में आया करूंगा। सचमुच यह उनका औदार्य था। मेरे वाहन के अभाव (जो आज भी बरकरार है) का अनुभव कर उन्होंने जैसे मेरे सारे संकोच को धो दिया। प्रति सप्ताह (कभी सप्ताह में दो बार भी) वे मेरे घर पर पधारते और अपनी अमृतमयी वाणी से घरभर को प्रमुदित करते। अपने अनुरूप, बैठने की गरिमा, सुविधा और शान्ति वहां न होते हुए भी वे देर तक बैठने की कृपा करते। मेरे घर के सामने ही उनके एक अन्य स्नेह-भाजन डा० ओ० पी० मिश्रा (प्रोफेसर सर्जरी विभाग, जबलपुर मेडिकल कालेज) रहते थे। पंडितजी उसके बाद या तो वहां जाते या उन्हें भी मेरे घर के छोटे से बरामदे में बुला लेते। न जाने कितने ऐसे अविस्मरणीय अपराह्न और संध्याएं हैं जो उनके प्रीत-सुकोमल, स्नेहाच्छन्न साहचर्य की सुधि से गुंथी पड़ी हैं। कभी कोई साहित्यिक मित्र या सहयोगी अध्यापक आ जाते तो कहना ही क्या? उनके अगाध ज्ञान और संस्कारशील हास्य-विनोद का खज़ाना खुल पड़ता।

जबलपुर विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। कुलाधिपति ने चतुर्वेदीजी को विधि संकाय का अधिष्ठाता मनोनीत किया। विश्वविद्यालय में विभिन्न विभागों की स्थापना हुई और उनकी एकेडेमिक सोसाइटी बनी। हिन्दी विभाग की सर्वप्रथम एकेडेमिक सोसाइटी को न्यायमूर्ति चतुर्वेदीजी

द्वारा उद्घाटित होने का गौरव प्राप्त हुआ। विभागाध्यक्ष के नाते मैं उन्हें आमंत्रित करने गया। उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी, यद्यपि वे अस्वास्थ्य के कारण उन दिनों साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आयोजनों में कहीं आते-जाते न थे। मैंने जब विनोदपूर्वक कहा—आप कम से कम पूरा पीरियड तो पढ़ायेंगे (45-50 मिनट बोलेंगे) तो उन्होंने हंसकर कहा—नहीं नहीं 20-25 मिनट से ज़्यादा नहीं। परन्तु हम सबकी आशा के बहुत आगे वे लगभग 80 मिनट धारा प्रवाह बोलते रहे। जिन्होंने हिन्दी साहित्य के उद्गमं और विकास के गहन ज्ञान से पूर्ण उनका वह सारगर्भित भाषण सुना होगा वे उसे न भूले होंगे। जबलपुर में सम्भवतः यही उनका प्रथम और अंतिम अभिभाषण था। कुलपति पं० कुंजीलाल दुबे से लेकर सम्पूर्ण श्रोता मंडली मंत्रमुग्ध सुन रही थी और चतुर्वेदी सबको रस-विभोर किये जा रहे थे। शहीद स्मारक का सारा हाल प्रोफेसरों, स्नातकोत्तर छात्रों एवं नगर के साहित्य-प्रेमियों से खचाखच भरा था। आधुनिक कविता, छायावादोत्तर प्रवृत्तियों और प्रयोगवाद के सम्बन्ध में उनकी मौलिक विचारावली आधुनिकों को विस्मित कर रही थी। हमारे आयोजन की सफलता की चर्चा पूरे सप्ताह भर चारों ओर चलती रही। चतुर्वेदीजी साहित्य, विशेषकर काव्य के साथ-साथ ज्योतिष, पुरातत्व, प्राचीन भारतीय इतिहास और भारतीय संस्कृति के भी सुविज्ञ जानकार, सतत अध्येता थे। चोटी पर के विधिवेत्ता होकर भी ऐसी बहुमुखी रुचि और विभिन्न विषयों में ऐसी गहरी पैठ कम देखी जाती है। ज्योतिष में तो उनकी अत्यधिक रुचि थी। प्राचीन भारतीय इतिहास विषयक उनकी लिखी 'संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी' उनके अध्ययन और मौलिक विचारप्रणाली का प्रमाण है। ज्योतिषाचार्य पंडित सूर्यनारायण व्यास जैसे प्रख्यात ज्योतिषी उनके सम्पर्क में आकर (जब चतुर्वेदीजी कलेक्टर होकर उज्जैन गये) उनके असाधारण ज्योतिष ज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए। दोनों की मैत्री उत्तरोत्तर घनिष्ट होती गई। चतुर्वेदीजी भारतीय ज्योतिष के साथ ग्रीक ज्योतिष प्रणाली के भी गहरे जानकर थे। इसी मैत्री के कारण चतुर्वेदीजी को ग्वालियर दरबार का कोपभाजन बनकर कठिन, संकटापन्न स्थितियों का सामना भी करना पड़ा, पर उनको न्याय-बुद्धि और विवेक की प्रेरणा ने उन्हें अपने प्रशासक के सम्मुख कभी अनुचित रूप

से झुकने नहीं दिया। यह दूसरा ही प्रसंग है और इस लेख से इसका सम्बन्ध भी नहीं है।

चतुर्वेदीजी का साहित्यिक व्यक्तित्व निर्मित करने वाली उनकी सर्वाधिक चर्चित और हलचल मचाने वाली पुस्तक है—'आधुनिक कविता की भाषा' जो आज से लगभग 20 वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी। इसमें उनके कुछ पूर्व प्रकाशित लेख तो हैं ही, कुछ अप्रकाशित लेख भी हैं। हिन्दी के प्राय: प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कवि के किसी न किसी प्रमुख ग्रंथ या ग्रन्थों की भाषा का सूक्ष्म, काव्यविवेचन-गत अध्ययन इन लेखों में प्रस्तुत किया गया है। प्रसाद की कामायनी, मैथिलीशरण गुप्त के साकेत और यशोधरा, हरिऔध के प्रिय-प्रवास, महादेवी वर्मा की यामा, पन्त के पल्लव और गुंजन, निराला की गीतिका और तुलसीदास, ठाकुर गोपालशरणसिंह की संचिता और ज्योतिषमती, माखनलाल चतुर्वेदी की हिम-किरीटिनी तथा सियारामशरण के बापू नामक काव्य-ग्रन्थों का इसमें सम्यक् अध्ययन और अनुशीलन है। साथ ही उस समय छायावादोत्तर और अपेक्षाकृत नये माने जाने वाले बच्चन के निशा-निमन्त्रण और मधुशाला, दिनकर के द्वन्द्व-गीत और रसवन्ती, अंचल के करील और लाल चूनर, गुरु भक्तसिंह 'भक्त' की नूरजहां, श्यामनारायण पाण्डेय की हल्दीघाटी, नरेन्द्र शर्मा के प्रवासी के गीत और पलाशवान, मोहनलाल महतो वियोगी के आर्यावर्त, सोहनलाल द्विवेदी के भैरवी आदि का भी विशद विवेचन है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, इन लेखों के प्रकाशन और इनमें किये गये युक्तिपूर्ण विवेचन ने उन दिनों साहित्य जगत को चौंका दिया। एक ओर चतुर्वेदीजी ने मैथिलीशरण गुप्त द्वारा अनूदित पलासी के युद्ध की प्रशंसा की तो दूसरी ओर उन्होंने गुप्तजी के भक्तों द्वारा महिमा-मंडित 'साकेत' को भाव-भाषा और काव्यत्व की दृष्टि से साधारण रचना माना। 'यामा' और 'दीपशिखा' की प्रशंसा की पर महादेवी की बहु प्रशंसित कविता 'बंग वन्दना' उन्हें भाव-भाषा की दृष्टि से हीन लगी। 'पल्लव' की उन्होंने प्रशंसा की, पर 'गुँजन' उन्हें नहीं जंचा। निराला की 'राम की शक्ति पूजा', 'जुही की कली' और 'गीतिका' के अनेक गीतों ने चतुर्वेदीजी का मन मोहित किया पर 'तुलसीदास' जिस पर डा० रामविलास शर्मा से

लेकर हम सब मुग्ध थे, उनको प्रभावित न कर सका। बच्चन का नवीन-नवीन छंदों का प्रयोग उन्हें प्रशंसनीय लगा पर ऐसे प्रयोग कविता की सरसता को कम कर देते हैं यह वे मानते थे। अंचल और दिनकर दोनों की मनोवृत्तियां एवम् हृदय उन्हें एक दूसरे के विपरीत लगे। दिनकर की शृंगार अथवा प्रेम सम्बन्धी अथवा चिंतन-प्रधान रचनाओं में भाषा का सुव्यवस्थित रूप उन्हें नहीं मिल पाता था। अंचल के सौन्दर्योपासना और प्रेम के गीत उन्हें बड़े मीठे और हृदयस्पर्शी लगे जबकि उनके प्रगतिवादी गीतों में उनके मतानुसार भाषा का स्वरूप बिगड़ जाता है। उनकी ये सब वातें उस समय हम सबके सम्बन्ध में प्रचलित और तत्कालीन आलोचकों और साहित्य-चर्चाओं में प्रकट होती रहने वाली विभिन्न छायावादी और प्रगतिवादी आलोचकों की मान्यताओं से मेल नहीं खाती थीं। पर अपने मत के समर्थन में चतुर्वेदीजी आलोच्य कवियों की रचनाओं से पर्याप्त उदाहरण देते थे। उनकी अकाट्य तर्कना पाठक को उनके साथ सहमत होने के लिए विवश करती थी। घिसे-पिटे वायवीय और अनिश्चित अर्थ वाले आलोचनात्मक छायावादी टुकड़ों और फिकरों से उन्हें अरुचि थी। वे ठोस, सुनिश्चित और संगत आलोचनात्मक उक्तियों के कायल थे और उन्हीं का प्रयोग करते थे। औचित्य को वह काव्य का सबसे बड़ा गुण और अनौचित्य को जिसके भीतर समस्त दोषों का अन्तर्भाव दिखाया जा सकता है, काव्य का सबसे बड़ा दोष मानते थे। उनके मतानुसार अनौचित्य की भरमार कविता को नीरस बना देती है।

अपने सम्पूर्ण विवेचनों में चतुर्वेदीजी ने खड़ी बोली के लोकप्रिय काव्य ग्रन्थों की परख में कवि-कर्म का व्यापक परीक्षण किया है। क्या कवि अपने भावों को ठीक-ठीक व्यक्त कर पाया है और क्या भाषा ऐसी है कि अपने हृदय में उठे भावों और उद्वेगों को कवि पाठक के हृदय तक पहुंचाने में समर्थ हो सका है? क्या भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है, क्या कवि ने प्रसंगानुकूल भाषा का प्रयोग किया है और क्या भाषा प्रवाह सुन्दर रहा है? बड़े-बड़े दोषों से कविता नीरस तो नहीं हो गयी? क्या देश-काल-लोक विरुद्ध वातें लाकर अथवा अन्य अनौचित्य लाकर कविता बिगाड़ तो नहीं दी गयी? क्या एक ही कविता में कई बातें ऐसी तो नहीं हैं जो एक-दूसरे

के विरुद्ध हों ? यदि वर्णन इतिवृत्तात्मक है तो क्या आवश्यक विषयों का परित्याग और अनावश्यक विषयों की भरमार करके कविता विगाड़ तो नहीं दी गयी ? चतुर्वेदीजी की यह स्पष्ट मान्यता थी कि छायावाद के लिए जो भाषा उपयुक्त होगी वही यथार्थ चित्रण में अथवा प्रगतिवाद के अन्तर्गत अभिव्यक्ति पाने वाली कटु, कुरूप, सामाजिक अनुभूतियों के प्रखर चित्रण के लिए उपयुक्त न होगी। कवि में इतनी क्षमता तो होनी ही चाहिए कि विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार भाषा के भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखा सके। शब्द-दोष, व्याकरण-दोष, भाषा-दोष इत्यादि वहां और भी खटकते हैं जहां कवि भाषा का साधारण प्रयोग करता है—शब्दों को सामान्य वाचक रूप में प्रयुक्त करता है। परन्तु जहां कल्पना की सहायता से, शब्दों को विशेष चित्र रूप में प्रयोग करके, रूपक अथवा मानवीकरण के सहारे पाठकों के हृदय में भावनाओं के चित्र बनाने का प्रयत्न करता है वहां इसी बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि कहीं ये चित्र धूमिल अथवा क्षीण तो नहीं हो गये अथवा असंगत एवं अस्वाभाविक होने के कारण कवि का उद्देश्य निष्फल तो नहीं हुआ। इसी प्रकार कवि द्वारा अत्यधिक चटकीले रंगों का प्रयोग भी उसके शब्द-चित्रों को भदेस—यहां तक की असंस्कारी भी बना सकता है। रंगों का संतुलन कवि के लिए नितान्त आवश्यक है। उसके शब्द-शिल्प-कौशल की पहचान उसी से होती है।

चतुर्वेदीजी के काव्यालोचन में भारतीय काव्य शास्त्र द्वारा निर्धारित श्रेष्ठताओं का आकलन तो है ही, पाश्चात्य काव्य-बोध, सौन्दर्य-परख की अभिनवतम कसौटी और साहित्यिक संस्कारशीलता तथा नवीन अभिरुचियों का भी परिचय मिलता है। अंग्रेज़ी साहित्य और काव्य-संस्कृति से उनका पर्याप्त परिचय था। विम्ब-विधान, प्रगीतत्व, सौन्दर्यवर्णन, चित्रात्मकता, प्रतीक-योजना, संकेतात्मकता, भावावेगों की संतुलित अभिव्यक्ति आदि काव्य के आधुनिक प्रतिमानों का उन्हें पूरा ज्ञान था जो काव्य को रूपगत तथा अर्थगत चारुता प्रदान करते हैं। भाषा पाठक के मन में रस-दशा जाग्रत करने में न केवल सहायक होती है वरन् अनुभूति की सम्पूर्ण प्रक्रिया को शक्ति और संयम प्रदान करती है। किसी पाश्चात्य

लेखक ने लिखा भी है—'We act in language'। भाषा का सौष्ठव, लालित्य, ऊर्जा, और रमणीयता काव्य को अभीष्ट अर्थवत्ता प्रदान करती है। चतुर्वेदीजी की सम्पूर्ण लेखमाला का यही प्रतिपाद्य था। भाषा के कविजनोचित प्रयोगों में वैविध्य और वैयक्तिक विशेषताओं के लिए पूरी छूट देते हुए भी वे एक न्यूनतम परिमार्जन और रचना-सौन्दर्य के हामी थे। ब्रजभाषा काव्य और उसके सूक्ति-सौन्दर्य से पूर्ण प्रभावित होते हुए भी—उसके मर्मज्ञ आस्वादक होते हुए भी वे नवीनतावादी थे। छायावाद, प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद सबके प्रति उन्हें साहित्यिक अनुराग था। परन्तु विभिन्न वादों के भीतर भी काव्य की आत्मा की सुरक्षा में वे विश्वास करते थे।

उन्हें दिवंगत हुए दो दशक हो गए पर उनकी मधुर मूर्ति आज भी मन पर अंकित है और आजीवन रहेगी। नर-नारी से भरे जगत में कवि का मन प्रायः अकेला ही होता है। मैं तो इस दृष्टि से और भी दयनीय जीव हूं। बहुत ही कम लोग जीवन में मिले जिन्होंने मन पर ऐसी अमिट छाप अंकित की हो जो स्मृतियों के भराव से मन के अकेलेपन को दूर करें। पं० ब्रजकिशोर जी चतुर्वेदी उन्हीं गिने-चुने सुहृदयों में थे जो जीवन में कभी न भूले जा सकने वाले आत्मीय वन जाते हैं। वे शायद इस संसार में सभी घर के बाहर के लोगों को देने के लिए ही आये थे और जब तक जिये मुक्त मन से केवल देते ही रहे। उनके नैकट्य में आने वाले के लिए उनका आत्मदान अविस्मरणीय है।

13

निराला के बहाने

हिन्दी में निराला के समान चर्चित और विवादग्रस्त कवि बीसवीं शताब्दी में अन्य कोई नहीं हुआ और शायद बाकी बचे बीस वर्षों में भी न हो पायेगा। सम्भव है मैं तब तक रुका रहूं—सम्भव है जहां से आया हूं वहीं लौट जाऊं पर अभी से अपनी धारणा व्यक्त किये दे रहा हूं। यह भी सत्य है कि अपनी सारी राजकीय उपलब्धियों, सम्मानों, पद्माभूषणों और स्थापना के मंच की बड़ी-बड़ी त्रासदियों के बावजूद कोई अन्य कवि जनमानस की प्रेममयी श्रद्धा के आसन पर नहीं बैठ पाया। निराला युगाराधण बन गये। उनके अभाव, दुखदैन्य और उनके स्वाभिमान प्रसूत संघर्षों ने उन्हें एक महाप्राण प्राख्यानक चरित्र बना दिया।

कुछ कवि-लेखक-कलाकार ऐसे होते हैं जो अपने जीवन-काल में अधिकाधिक पुजते रहते हैं। उन पर भी अभिनन्दनों, राजनैतिक संरक्षणों और भौतिक वैभवों की वर्षा होती है। अपने जीवन काल में ही उन्हें इतना मिल जाता है कि मरने के बाद उन्हें कुछ और पाने को शेष नहीं रह जाता। आकाशवाणी, दूरदर्शन, राष्ट्रपति भवन के नामांकन उनका मुंह निहारते हैं। विश्वविद्यालयों की मानद उपाधियां उन्हें अलंकृत करने के लिये होड़ लगाती हैं। यदि वे सत्ता के पक्षधर हुए, 'कनफारमिस्ट' मनोवृत्ति के हुए तो क्या कहना। रातों-रात चोला बदलकर वे शक्ति के बदलते सांचों में फिट होते रहते हैं। साहित्य समितियों, अकादमियों, साहित्यिक अभिरुचि संपन्न पूंजीवादी प्रतिष्ठानों द्वारा प्रदत्त पुरस्कारों की मोटी-मोटी रकमें उनके बैंक-बैलेन्स की चरबी बढ़ाने के लिये होड़ लगाती हैं। अर्थलोलुप और यशलोलुप नयी-पुरानी साहित्यिक पीढ़ी उनका मुंह निहारती है क्योंकि वे शासकीय-साहित्यिक संरक्षण के अलम्बरदार होते हैं। पर ऐसे रचना-धर्मी साधक साहित्यकार भी होते हैं जो इन भूतियों और अलंकरणों को महत्त्व नहीं देते। उनका मानस, उनकी सम्पूर्ण चेतना किसी अन्य वृहत्तर जीवना-

शय से जुड़ी होती है। उनकी अदम्य आस्था उन्हें मरते दम तक ईमानदारी के परिश्रम और यापन के कठिन संघर्ष से मुक्ति नहीं पाने देती। वे जीवन में, साहित्य में, यशार्जन में असफल और नामुराद समझे जाते हैं पर उनके न रहने पर उनके चरित्र की चारुता अपनी सारी किरणोज्जवलता के साथ आलोकित होती है, जिन्होंने आजीवन सुख-सुविधा-सम्पन्नता की तलाश की वे न रहने पर अपने स्वार्थ की विकृतियों की ही यादगार बन जाते हैं। उनकी सारी श्रीवृद्धि, सारी चकाचौंध, सारी गरिमा-महिमा उन्हीं के साथ दम तोड़ चुकी होती है। पर जिन्होंने अपने विश्वास पर अपनी आहुति तिलतिल कर दी वे एक प्रभाव बनकर, परिणाम बनकर वातावरण में व्याप्त हो जाते हैं। निराला आज ऐसी ही सार्थकता की जीवन्त ज्योति-शिखा बन गये हैं।

लखनऊ निराला कमोबेश स्थायी रूप से सन् 1928 में आये जब लखनऊ अपनी साहित्यिक प्रसिद्धि से गूंज रहा था। 'माधुरी' और 'सुधा' जैसी दो श्रेष्ठतम साहित्यिक मासिक पत्रिकाएं वहां से प्रकाशित होती थीं। उनके वार्षिकांक आज भी साहित्य की स्थायी निधि हैं जिनमें प्रकाशित होने के लिये उन दिनों प्रत्येक बड़ा-छोटा कवि-लेखक उत्सुक और लालायित रहता था। गंगापुस्तक माला जैसी श्रेष्ठ प्रकाशन संस्था वहां थी, जिसके अन्तर्गत निराला का सर्वप्रथम कविता संग्रह 'परिमल' प्रकाशित हुआ था। बाद में तो उनकी कई पुस्तकें इसी श्रेष्ठ साहित्यिक प्रकाशन-गृह से निकली थीं। प्रेमचन्द्र, रूपनारायण पांडेय, कृष्णाबिहारी मिश्र, मातादीन शुक्ल, बदरीनाथ भट्ट, (डा०) वासुदेव शरण अग्रवाल आदि तब वहां कार्यरत थे और निराला को एक बड़ा साहित्यिक परिवार वहां मिल गया था। पर वहां के साहित्यिक माहौल में नवयुग की जागृति लाने का श्रेय निराला को ही मिलना था। हिन्दी के युगान्तरकारी कवि तो वे तब तक हो ही चुके थे।

लखनऊ के रीतिकालीन खुमारी से भरे साहित्यिक वातावरण को निराला ने ही अपने सशक्त व्यक्तित्व की ऊर्जाप्रद उपस्थिति से सर्वप्रथम विद्युत संचालित किया था। उर्दू-जगत में तो आनन्द नारायण मुल्ला (न्यायमूर्ति), मजाज़ और अली सरदार जाफरी उस समय तक कविता

क्षितिज पर उदित हुए ही न थे, हिन्दी की नयी अभ्युदयशील पीढ़ी भी तब तक स्कूल-कालेजों में पढ़ रही थी। उसके साहित्यिक होश सम्भालने तक साहित्य की सारी चुकी हुई परम्परायें और काव्य-रीतियां, रूढ़ियां समाप्त हो चुकी थीं। निराला नवयुग की स्थापना कर चुके थे।

उन दिनों छायावाद का चतुर्दिक विरोध हो रहा था और निराला—उनकी छन्दमुक्ता काव्य-सृष्टि का सबसे अधिक। यहां यह लिखना आवश्यक है कि प्रसाद और पन्त ने अपने नीतिज्ञ सौम्य स्वभाव और मुलायम मिजाज़ की मिठास के कारण अपने विरोधी नहीं बनाये। पर निराला के भीतर इतनी प्रचंड वैचारिक और काव्यगत ऊर्जा थी जो उनके भीतर न समा पाती थी। उनका विद्रोही मन हिन्दी कविता को बिलकुल नये प्राणवान सांचे में ढाल देना चाहता था ताकि जीर्णता की सारी केंचुलों को उतार कर वह फेंक दे और कायाकल्प कर ले। निराला दार्शनिक थे—'समन्वय' जैसी हिन्दी की उच्च कोटि की दर्शन-पत्रिका का सम्पादन वर्षों कलकत्ते में कर आये थे। पर छायावाद और स्वछंदतावाद पर किसी भी प्रकार का आक्रमण वे सहन न कर पाते थे। आत्मविश्वास उन्हें अपने ऊपर, काव्य-सृष्टि पर ऐसा था जो सच्चे युग प्रवर्तक को ही प्राप्त होता है। उनकी 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता का उस समय विरोध ही नहीं हुआ—'बिच्छू के दंशन को झाड़ने का मंत्र' कह कर उसकी खिल्ली तक उड़ाई गई। आज वही हिन्दी की एक श्रेष्ठतम और छायावादी युग की सशक्ततम रचना मानी जाती है। इसी प्रकार निराला की अन्य परवर्ती कविताओं—कुकुरमुत्ता, यशोधरा आदि को भी पहले उपहास का पात्र समझा गया पर उनमें निहित शक्ति ने हिन्दी के प्रगतिशील काव्य में अपना अनन्य स्थान बना लिया। दूसरी ओर इसी दौर में लिखे गये निराला के गीत भी अपने जीवन्त कथ्य और स्वाभाविक शिल्प के कारण जागरूक पाठकों को मोहित करते रहे।

जब से (1928) मैंने निराला को देखा, उनके निकट रहा और उनका स्नेहभाजन बना तब से उन्हें बराबर कठोर परिश्रम करते ही पाया। जीविका के लिये उन्हें विविध साहित्यिक और साहित्येतर विषयों पर स्फुट लेख लिखने पड़े, महापुरुषों की जीवनियां लिखने के साथ-साथ प्रचुर

मात्रा में अनुवाद कार्य करना पड़ा, सुधा के सम्पादन में नियमित रुप से योग देना पड़ा—सम्पादकीय टिप्पणियां लिखनी पड़ीं। स्वभाव से अक्खड़, बेबाक, आलोचनात्मक ईमानदारी मे तेजवन्त निराला को मैंने सदैव काम करते और कलम की श्रमजीविका करते ही पाया। पर वे अपने मौलिक लेखन (गद्य और काव्य दोनों में) का प्रबन्ध क्रम भी निबाहते रहे। अपनी रचनाशक्ति की चारुता और ऊर्जा पर उन्हें इतनी आस्था थी कि वे कभी निर्माण की अदम्यता से विचलित नहीं हुए। उन दिनों कविताओं के लिये पत्र-पत्रिकायें कोई पारिश्रमिक नहीं देती थीं। केवल गद्य लिखकर, अधिकतर प्रकाशकों की फरमाइश पूरी करके ही पैसा पाया जा सकता था। निराला को अपनी अभिशप्त आर्थिक नियति का पूरा-पूरा बोध था। श्रम की अनिवार्यता और उसमें निहित सर्जना की संभावनाओं का उन्हें तीव्र अहसास था। छायावाद के दो अन्य शीर्षस्थ कवियों की तरह उन्हें सुखसुविधाएं न तो मिली थीं और न उन्हें उनकी कामना ही थी। उनके भीतर किसी प्रकार का साहित्यिक अभिजात्य और सामाजिक कुलीनता की परम्पराजन्य भावना भी न थी। उनका रहन-सहन किसी भी औसत गरीब भारतीय जैसा था लेकिन उनकी आय का अधिकांश भाग दीनों-दुखियों को दान देने, आवश्यकता ग्रस्त के अभाव दूर करने या अपने दिवंगत साहित्यिक मित्रों, परिवार-जनों की सहायता में खप जाता था।

हिन्दी भाषा और साहित्य का बड़ा दुर्भाग्य रहा कि वह राजनीति और राजनीतिज्ञों की प्रभुता से आक्रान्त रहा। साहित्य और साहित्यकार की गरिमा सदा राजनीति के शलाका पुरुषों का मुंह निहारती रही। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी कुछ ऐसा है जो प्रादेशिक भाषाओं के भरे-पूरे समकालीन साहित्य की तुलना में स्थान पा सके—उस युग में रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, प्रसाद, उग्र, स्वयं निराला और पन्त के होते हुए भी, इसे मानने को नेहरूजी से लेकर प्रचारक पत्रकारों तक कोई तैयार नहीं था। हिन्दी के साहित्यकारों में निराला ही ऐसे ऊर्जापुरुष थे जो हिन्दी भाषा और साहित्य के गौरव पर समुचित अभिमान रखने के कारण कभी बड़े से बड़े नेता या स्थापना के स्तंभ से नहीं दबे। जिन्होंने गांधी, नेहरू और दूसरे नेताओं के साथ उनकी वार्तायें और साहित्यचर्चाएं पढ़ी हैं,

व इसे भली-भांति जानते हैं। यही कारण है कि जीवन के, समाज के संघातों को अपनी कृतियों में निराला इतना सार्थक और छविवान बना गये हैं, कि आज भी उनकी प्रासंगिकता ज्यों की त्यों है। निराला के विद्रोही मन पर पड़ी प्रत्येक चोट ऊर्जा का स्फुलिंग बन जाती थी, संरक्षण की चाहना न करने देती थी।

उनका वेदान्ती संतत्व इन सबकी क्षणभंगुरता और खोखलेपन को पहचानता था। राजाश्रय को छोड़कर जीवन के क्रूरतम आवर्तों के बीच गंस कर भी वे अडिग और अकंपित रहे। आज के गलाकाटूस्पर्धा के युग में उसी के अनुरूप अपने को ढाल लेने वाले, संसद्भवनों के राजमहलों में, प्रादेशिक राजधानियों में अर्थ और सम्मान के लिये दस्तकें देने वाले कवि-लेखकों के लिये निराला आत्मगौरव की बेमिसाल नजीर छोड़ गये हैं। उनके युग की और उससे बढ़कर आज की सुविधा सभ्यता किसे मोल नहीं ले सकती ? पर जो झुकता नहीं, वह बिकता नहीं। बड़ी से बड़ी खरीदारी और नीलामी में उसके चरित्र पर बोली लगाने कर साहस बड़ा से बड़ा खरीदार भी नहीं कर पाता।

निराला उन दिनों (1928 से 1934) हमारे परिवार के अंग बने रहे। महीनों हमारे यहां रहे। मेरे पिता माधुरी के संयुक्त सम्पादक—बाद में प्रधान सम्पादक (स्व:) मातादीन शुक्ल उनके प्रगाढ़मित्र और प्रबल साहित्यिक समर्थक थे। 'परिमल' (निराला का 1929 में प्रकाशित लगभग प्रथम कविता संग्रह) के सारे प्रूफ निराला ने हमारे घर पर ही रहते हुए देखे थे। इसके बाद वे अलग रहने लगे थे पर उनकी प्रायः प्रत्येक शाम बरसों हमारे यहां बीती थी। अक्सर वे सुबह भी आ जाया करते थे—अपना नया गीत, नई रचना पिता जी को सुनाते थे। मैं भी अपनी स्कूल-कालेजी पढ़ाई की किताबें छोड़कर पास आ बैठता था। यहीं से मेरे भीतर काव्य-संस्कार का जन्म होता है। इसके पहले अपने कालेज की त्रैमासिक पत्रिका में मैं लेख लिखा करता था। कभी कवि बन जाऊंगा और छायावादोत्तर (निराला के बाद की) पीढ़ी का एक उल्लेखनीय हस्ताक्षर मान लिया जाऊंगा यह सोच भी न सकता था। ब्रजभाषा की काव्य-माधुरी में दिन-रात डूबा मेरा मन हिन्दी की स्वछन्द कविता में भी

समान रस लेता था पर उसकी भावमयी गूढता और सौन्दर्य-सुषमा को उतना समझ न पाता था। मेरे नये काव्य-संस्कारों को गढ़ने में निराला का सबसे अधिक हाथ रहा है। गीतिका में संकलित उनका प्रत्येक गीत प्रकाशन के पूर्व मुझे उन्हीं के संगीत-सिद्ध कंठ से सुनने को मिला है—लिखे जाते ही या प्रकाशन के पूर्व। तब मुझे लगता था मेरे भीतर रूप, रस, रम्यता की नई-नई परतें खुलती जाती थीं।

निराला की न जाने कितनी अविस्मरणीय यादें मेरे बालमन, युवा चेतना और प्रौढ़ भावनाओं के साथ गुन्थी पड़ी हैं। हिन्दी में कबीर के बाद ऐसा त्यागी, परार्थी और योद्धा चरित्र कवि अन्य कोई नहीं हुआ। संसार की सारी चुनौतियों को आजीवन अविचलित भाव से स्वीकार कर वे पग पग पर मरण का वरण करने के लिये तत्पर थे। स्वाधीन भारत की सर्व-सत्तामयी सरकार ने उन्हें कभी किसी पद प्रतिष्ठा के योग्य भले न समझा हो पर अपने साधक जीवन और साहित्य के लिये सर्वस्व-समर्पण के कारण अपने विश्वासों पर निरन्तर छीजते रहकर अन्त में मिट जाने की दर्पमयी दृढ़ता के कारण वे 'गौरव-गिरि उत्तुंगकाय' बन गये हैं।

14

'सफल सीप सी भर-भर आती आँखें'

उन दिनों निरालाजी लखनऊ में 'हेवेटरोड' स्थित भार्गव होटल में रहा करते थे। उनके यहां हम कभी किसी समय जा सकते थे। सुबह, दोपहर, अपरान्ह, शाम, रात का कोई बन्धन न था—न बड़ों के लिये न छोटों के लिये। पन्त जी लखनऊ में रहते तो वहां घण्टों बैठे मिलते। बाहर से आने वाले सभी नये-पुराने कवि-लेखक, साधारण, चारों ओर किताबों, लिखे या कोरे कागजों के बिखराव की कविश्री लिये हुए कभी बिछावनयुक्त, कभी बिछावनहीन उनके पलंग के पास पड़ी दो चार कुर्सियों पर उस अनासक्त आडम्बरहीन ज्योति-पुरुष के दर्शनार्थ बैठे मिल जाते थे जो बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे जमे हुए विरोधी के असाहित्यिक प्रचार का शिकार बना हुआ अकेला अपनी ऊर्जा और रचनाधर्मिता के बल पर जिये जा रहा था।

एक दिन अपरान्ह वहां पहुंचा तो निकट की कुर्सी पर बैठे एक थके-थके से आभाहीन मुख वाले, लगभग अजीवन का सा निर्विकार अपने रूखे, उलझे, झबरे बालों के चारों ओर फैलाये, कृषकाय व्यक्ति को देखा। साइकिल बरामदे में रखकर मैं जैसे ही अन्दर आया और प्रणामपूर्वक एक किनारे खड़ा हुआ, निरालाजी ने प्रसन्न मुद्रा से कहा—इन्हें प्रणाम करो—सियारामशरण गुप्त हैं—जानते हो न !

मैंने दोनों हाथ पुनः जोड़ते हुए कहा—क्यों नहीं, बचपन से आपकी कविता पढ़ता आ रहा हूं। 'मौर्य-विजय' तो हाईस्कूल के कोर्स में था। मेरी ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से सियारामशरणजी को देखते हुए पाकर निरालाजी ने कहा—ये अंचल हैं, मेरे मित्र, मातादीन शुक्ल के चिरंजीव—बी० ए० में पढ़ते हैं—अच्छी कहानी लिखते हैं।

निरालाजी ने कवि के रूप में मुझे पसन्द करना तब तक शुरू न किया था। पर माधुरी में मेरी कहानियां 'मेरा मुंह', 'सोहाग का सिन्दूर' और

'कर्त्तव्यहीन' पढ़कर उन्होंने उन दिनों गांव में होते हुए भी माधुरी-संपादक को मेरे लिये शुभाशीष लिख भेजा था। मैं सियारामशरणजी को देखे जा रहा था। चेहरे पर बाल-सुलभ सरलता थी पर कितनी बीमार, कितनी मुरझाई हुई···केवल आंखों की चमक, मर्मभेदी तीक्ष्ण दृष्टि उनके शरीर को साधे थी। मैंने उन्हीं दिनों खादी पहनना शुरू किया था—वे भी खादी का कुरता,धोती, टोपी पहने थे। इसलिये मेरी खादी की कमीज़, पायजामा और उन दिनों के फैशन 'चैक डिज़ाइन' के 'डबल ब्रेस्ट' के खादी के कोट की अभारतीयता उन्हें अरुचिकर नहीं लगी, यह उनकी गहरी दृष्टि मुझे बता गयी।

मैंने कहा—आपकी कविता 'प्रियतम कब आवेंगे कब ?' मुझे पूरी याद है—बड़ी प्यारी लगती है—कहते-कहते एक सांस में आरम्भ से लेकर 'सत्वर बढ़ जाने वाले ये दीपक बढ़ जावेंगे जब, प्रियतम तब आवेंगे तब' की अंतिम पंक्ति तक उन्हें सहज, कुछ-कुछ प्रभावपूर्ण ढंग से सुना गया। आर्द्रा में संकलित 'एक फूल की चाह' भी आधी से आगे दूर तक सुना गया। उनकी आंखों में तारल्य छलक उठा—उनकी कविताओं की करुण मनोहरता उनकी निपट आकर्षणहीन मुखाकृति पर बिम्बित हो उठी। निरालाजी ने कहा—इस लड़के को कवितायें बहुत याद हैं—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अंगरेज़ी की भी।

सियारामशरण कुछ बोले नहीं। उन दिनों (1932-33) विश्व-विद्यालय का (फिर लखनऊ जैसे फैशन-परस्त) छात्र होना असाधारण बात हुआ करती थी। हिन्दी साहित्य, विशेषकर कविता के प्रति अंतरंग अनुराग रखना और एक के बाद एक सुनाते जाना—(लगे हाथ 'जहां है अक्षम स्वर-झंकार', 'साथ में कर दे कुछ पाथेय', 'छोटी सी हमारी नाव चारों ओर है समुद्र' आदि उनकी कवितायें भी सुना डाली थीं)—एक फैशनेबिल छात्र छोकरे से इसकी अपेक्षा सियारामशरणजी ने हरगिज न की होगी। उनकी आंखों में तैरता पानी···जैसे कह रहा था—मेरा इतना प्रेमी पाठक भी कोई हो सकता है···इतना अनुरक्त प्रेमी···उनकी आंखें उनके भावुक और कारणहीन कृतज्ञता से भरे हृदय को उंडेले दे रही थीं।

मैंने कहा—आपका मौर्य-विजय मुझे अच्छा नहीं लगा—पर आपकी

'लीरिकल' कवितायें मन के भीतर बहुत दूर जाकर भावना में रम जाती हैं।

कोई फर्क नहीं। वैसी ही भाव-विगलित करुणार्द्र मुद्रा और 'सफल सीप' जैसी भरी-भरी आंखों की वही स्नेह-विमुग्धता।

निरालाजी को मेरा यह कथन अनावश्यक लगा। बोले—ऐसी बात नहीं है—सब अपनी-अपनी जगह हैं—अपनी-अपनी 'ब्यूटी' लिये हुए।

मैंने अनुभव किया—सियारामशरणजी को मेरी इस बात से त्राण मिल रहा था। लज्जित कर देने वाली पूरी प्रशंसा-चर्चा में यह अस्वीकृति की आवाज़ उन्हें जैसे सचमुच उबारे ले रही थी। बोले—दद्दा और त्रिपाठी जी को हम कहां पा सके हैं। वे कलम के धनी हैं—रस के सरोवर।

मैं फिर बोल उठा—आपकी काव्य-भाषा मुझे दोनों की भाषा से समृद्ध और सौष्ठवपूर्ण लगती है—निराला और प्रसाद की भाषा वाली सुन्दरता लिए हुए।

निरालाजी ने कहा—रवीन्द्रनाथ को बंगला में पढ़ोगे तो हम सबको भूल जाओगे··· संगमरमर पर प्रभात की बाल-किरणों के पड़ने से जो गौर कांति झलझलाती है बिल्कुल वैसी। कालिदास की 'कनकगौरी' जैसी··· और वे सस्वर 'उर्वशी' के अंश सुनाने लगे। मरे-मरे से हम दोनों सुनते रहे। होटल में रहने वाले निरालाजी के प्रगाढ़ परिचित एक बंगाली युवक—एल०एल०बी० के छात्र (नाम याद नहीं रह गया) भी आकर पास बैठ गये।

सियारामशरणजी से मेरी यही पहली भेंट थी। इसके पहले बहुत से कवि-लेखकों से मिला था—उनसे बातें की थीं या पास में चुपचाप खड़े रहकर उन्हें बड़ों से बातें करते देखा-सुना था। पर तब तक और आज जीवन के आखिरी तट तक पहुंचते-पहुंचते भी ऐसा 'करुणा-कलित' प्राणी तो दूसरा मिला नहीं जो अपनी बात, प्रशंसा के दो बोल सुनकर तिरछी निगाहों से ताकता रह जाय। उस समय तक वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि माने जा चुके थे। विशाल भारत, सुधा, माधुरी, सरस्वती, साप्ताहिक प्रताप, सैनिक के अंक उनकी रचनाओं से सुशोभित होने के लिये उत्सुक रहा करते थे। पर उनकी काव्य-कृतियों के 'अनाथ', 'आर्द्रा', 'विषाद', 'दूर्वादल' जैसे

नाम उनके भीतर न समा सकने वाली निरीहता और अकिंचनता को प्रकट करते थे। ऊपर से ही दिखाई पड़ जाने वाले उनके तलदर्शी मानस में इतना जल भरा है, यह मैं उनकी कविताओं में छलछलाते विषाद, प्रगाढ़ वेदना के पिघलते प्रवाह के बावजूद सोच भी न सकता था। सूखकर लगभग छुहारा होते जा रहे शरीर परन्तु आत्म-गौरव से दीप्त मस्तक वाला, कम बोलने और दूसरों की अधिक से अधिक सुनने वाला यह प्रख्यात कवि अपने साहित्यिक अहं को कहां···कितने पीछे···कितने पीछे छोड़ आया है, यह समझना कठिन था।

इसके पहले मैथिलीशरण गुप्त को भी निकट से देखा था, उन्हें दूसरे साहित्यकारों से बात करते सुना था। उनके खण्डकाव्य 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'रंग में भंग' बार-बार पढ़े थे। उनकी बुन्देलखण्डी पगड़ी, घुटने तक कुरता और लगभग घुटने तक ही रहने वाली धोती, मुझे लगता था अपने मोटे, देहाती कुढंगे लिबास में भी न छिप पाने वाले अपने बड़प्पन को भली-भांति जानकर वे घोषित करना चाहते थे कि वे साधारण हैं, अनाकर्षक ग्रामीण हैं, वैष्णवी भारतीयता के जीते जागते नमूने हैं। जैसे एक अनपढ़, सपाट, परचूनी दर्शनीयता को वे अपने चारों ओर समेटकर और लपेटकर चलते रहे हों। उनकी सादगी में मुझे सदैव एक प्रयत्न-साध्यता, उनके सम्पूर्ण काव्य में मिलने वाली तुकान्तता मिलती थी। वे चाहते थे कि उन्हें ठेठ सीधा, सरल भारतीय संस्कारवान समझा जाये। ऊपर से दिखने वाली उनकी चाल-ढाल की सामान्यता के आवरण में लिपटी उनकी साहित्यिक असाधारणता को समूचे तौर पर समझा जाय—माना जाय। इसके विपरीत सियारामशरण सादगी की आत्मा ही आत्मा सिर से पैर तक थे—उसका शरीर कतई नहीं। न वे रहस्यमय दिखना चाहते थे, न उपासनामय, न भारतीय ग्रामीणतामय, न गांधीवादी सात्विकतामय परन्तु ये सब और भी न जाने क्या अकृत्रिम, अनाभास, अपरिग्रही उनके स्वभाव और स्वान्त से फूटता-फैलता मुझे लगा किया। भीतर-बाहर की ऐसी एकात्मकता, ऐसा 'ज्यों का त्यों' पन, साध्वी-सती का सा निष्कपट अन्तःकरण मुझे आजीवन अन्यत्र कहीं नहीं मिला। विनयशीलता, सरलता, सादगी और वत्सल अल्हड़पन के आवरण में

लिपटी व्यवहार कुशलता और 'निपट ठेठ' बूझे जाने की नियोजित पटुता ही मिली। 'हेमलेट' की 'देयर इज़ ए मेथड (पद्धति) इन हिज़ मेडनेस' वाली उक्ति ही सर्वत्र चरितार्थ दिखी। पर सियारामशरण का पूरा व्यक्तित्व, पूरा का पूरा काव्य, गद्य-साहित्य पद्धतिहीनता का निपट, निचाट सहजता का अद्भुत उदाहरण था। इतनी कविप्रतिभा, इतनी समझदारी, इतनी सूझबूझ, इतनी स्वार्जित, सही-भोगी-रात-रात-भर-जागी, निरन्तर काटती रहने वाली तीक्ष्ण शारीरिक, मानसिक वेदनाभूति, इतनी यन्त्रणा, यातना, दुखभोग और यह व्यक्ति इतना सदाचारी, इतना निर्लिप्त, इतना रागद्वेषहीन, पवित्रता-तन-मन की शुभता के अतल तक धंसा हुआ, कहीं कोई मनोविकार नहीं। तन-मन के दुख-दाह ने उन्हें तपा तपाकर 'नेशनल गोल्ड' (जो अब इस स्वर्ण-नियंत्रण युग में कहीं देखने को नहीं मिलता) बना दिया था।

इसके बाद लखनऊ में, इलाहाबाद और दिल्ली में उनसे कई बार भेंट हुई। रेडियो कवि-सम्मेलन में वे यदा-कदा ही आये पर सौभाग्यवश उनमें मैं भी बुलाया गया था। मुझे लगता था वे मेरी कविता के प्रशंसक हैं। 'कवि श्रीमाला' की योजना की चर्चा उन्होंने की थी—उसमें मुझे गूंथने की बात भी इतने अनुनय के साथ कही थी कि मैं लज्जा-चकित रह गया था। उनसे मिलते ही मैं उनकी पंक्तियां उन्हें सुना चलता और वे तरल-मुदित तन-मन रह जाते। बाद में तो डा० नरेन्द्र की देखा-देखी मैं उन्हें 'बापू' कहने लगा था। चिरगांव मैं कभी जा न पाया यद्यपि उन्होंने बड़े प्यार के साथ आने को कहा था—सन् 1961 को जबलपुर में हुई अपनी तीन दिवसीय अंतिम भेंट में भी।

पर अपनी बात न कहकर उन्हीं की बात करते रहना चाहता हूं। उनमें ऐसा अथाह जीवन-प्रबोध कुछ-कुछ स्थिति-प्रज्ञता जैसा कहां से आ गया था? यह मात्र जीवन भर लम्बी बीमारी की घोर कष्टप्रद तेजाबी शोधक शारीरिक वेदना नहीं, अनुगता पत्नी और एक-एक कर सभी सन्तानों के असमय ही काल-कवलित होते जाने का तीक्ष्ण मनस्ताप भी नहीं, कुछ और भी है। यह जन्मजात है, अंगभूत है, संस्कारी है, जो उन्हें सारे भाव-अभावों, राग-विरागों से ऊपर उठाये रहा। कोई और है...

कहीं ऊपर, बड़ी दूर जो उनकी इस अनुपम मानसिक गठन को रचे था। यह उसी का करम (अनुग्रह) था जिसने उन्हें पहाड़ी ताल जैसा निर्मल और पारदर्शी बना दिया था। वे कुछ भी छिपाने की क्षमता नहीं रखते थे, इसलिये उनके पास कुछ छिपाने लायक रह ही न पाया था। विधाता की यह कितनी बड़ी समझदारी थी, यही मैं सोचा करता था।

पहली भेंट के बाद से ही सियारामशरणजी से मिलने की उत्सुकता बनी रहती थी। तभी से उनकी रचनायें ढूंढ-ढूंढ कर पढ़ने लगा था। कुछ अच्छी लगती थीं, कुछ प्रभावहीन। नाटक तो लगभग निष्प्राण लगा था पर उनकी कहानियां और उपन्यास बिल्कुल उन्हीं की तरह मन को अभिभूत कर सरलता की बाढ़ में बहा ले जाने वाले। उनके कहानी संग्रह 'मानुषी' की आलोचना 'माधुरी' में मैंने 1934 में लिखी थी और उनकी अमर कहानी 'कोटर और कुटीर' की सर्वाधिक प्रशंसा की थी जिसमें प्यास से पीड़ित चातक-शावक और भूख के कष्ट से पीड़ित मानव पुत्र—दोनों के जीवन-मूल्यों की ईमानदारी को बिना किसी लहज़ेबाज़ी के पूरी-पूरी सर्मपित निष्ठा के साथ चित्रित किया गया है। टूटते मनोबल वाले किसी भी संकट ग्रस्त को यह कहानी प्रेरक बल प्रदान करती है। तुलसीदास ने अपनी एकनिष्ठ भवित के प्रकाशन के लिये चातक के स्वाति प्रेम के जिस आदर्श को जीवन्त किया है उसकी एक झलक अन्तःस्पर्श के साथ, वैसी ही ऊंचाई से इस कहानी में मिलती है। आस्था और अडिग प्रेरणा का ऐसा सहज स्वाभाविक परिवेश प्रेमचन्द के अलावा अन्यत्र दुर्लभ है।

मेरी सियारामशरणजी की अंतिम भेंट सन् 1961 में हुई जब सेठ गोविन्ददास के जन्म-दिवस पर वे अपने अग्रज मैथिलीशरण गुप्त के साथ आये थे। बच्चनजी, डा० नगेन्द्र, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, डा० सुरेश अवस्थी, डा० दशरथ ओझा आदि अनेक साहित्यकार भी उनके साथ या एक-एक कर जबलपुर पधारे थे। सभी सेठ जी के आवास-प्रासाद में ठहरे थे। तीन दिन लगातार भाषणों, गोष्ठियों, परिचर्चाओं की धूम मची रही। मुझे इस बार नज़दीक से—बिल्कुल अंतरंग से 'बापू' को देखने का अवसर मिला। जैसे वे बाहर के नहीं, बिल्कुल अन्दर-अन्दर के ही थे। उनकी मृत्यु के लगभग दो वर्ष पहले की बात यह है। अपने कथा-पात्रों की तरह

विचार, स्वभाव और रहन-सहन में तो एक कृषि प्रधान देश के ठेठ वासी वे आजीवन रहे थे ही, इधर मैंने उनमें एक परिवर्तन पाया रुक-रुक कर निकलने वाली अपनी पीड़ित सांस के कारण हो या, अपने चारों ओर की सतही सफेदपोशी के ढक्कन के नीचे रह-रह कर खुल-खुल जाने वाली सामाजिक कुरूपता और विकृतियों के भावना प्रवण तीखे, मध्यवर्गी अहसास के कारण हो—उनकी वाणी और गंभीर हो गयी थी। वे एक दो बार को छोड़कर अधिकतर विशाल अतिथि-कक्ष में ही पड़े रहते थे। मैं प्रायः उन्हीं के पास बैठा रहता था। उसी दिन निराला के निधन का समाचार आया था। आयोजन की चहल-पहल के बावजूद सारा वातावरण एक गहन विषाद से पीला पड़ गया था। एक न दिखने वाली दुख-दाहता चारों ओर समायी हुई थी।

मैंने कहा—बापू ! मृत्यु होने में कोई हानि नहीं है पर निराला जैसे अखण्ड अवमुक्त विद्रोही की मृत्यु इतनी तकलीफ देह यंत्रणा की तिल-मिलाहट में आपकी पंक्तियां याद आती हैं—

'ओ कठोर ! तेरी कठोरता कर दे हमको कुलिश कठोर,
विचलित कर न सके कोई भी झंझा की दारुण झकझोर।
ओ दुःसह ! तेरी दुःसहता सहज सह्य हमको हो जाय,
तेरे प्रलय-घनों की धारा निर्मल कर हमको धो जाय।'

अधलेटे बापू उठकर बैठ गये। उनकी आंखों में कहां की—कैसी बड़ी दीप-शिखा पूरी की पूरी जल उठी। मुझसे बोले—आप भूल गये ! निराला ही ने लिखा है—

'मरण को जिसने वरा है
धरा भी उसकी, उसी के अंक सत्य—यशोधरा है।
गिरि पताक उपत्यका पर हरित तृण से घिरी तन्वी,
जो खड़ी है, वह उसी की पुष्प-भरणा अप्सरा है।

मैंने कहा—यह सब कहने की बातें हैं। भौतिक शरीर के बाद कहीं कुछ नहीं रह जाता। सारे भौतिक लगाव—लिपटाव खत्म हो जाते हैं। आप लिखा करिये···सोचा करिये···

जाता हूं, जाने दो मुझको मैं हूं सरित-प्रवाह,
जाकर फिर-फिर आ जाने की मेरे मन में चाह।
गृह-कपोत हूं मैं—उड़ने दो मुझको पंख पसार,
नहीं हर सकेगा अनन्त भी मेरे घर का प्यार।'

उनकी आंखों में फिर तरलता का वही तैराव, वही वत्सल वहाव। अट्ठाइस वर्ष पहले का किशोर छात्र (जो अव प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष था) जैसे उनकी आंखों के सामने आ खड़ा था—वही जो उसी दिन करुण मृत्यु भरे निराला के कमरे में ही पहली वार उन्हें मिला था। आज वड़ा और प्रसिद्ध हो जाने पर भी उसी दिन के मसें-भीगते तरुण की तरह उनकी पंक्तियां दोहराता है। आयोजन की गोष्ठियों में नहीं जाता—उन्हीं के पास रात दस-ग्यारह बजे तक बैठा रहता है।

मैंने जीवन में कभी डायरी नहीं लिखी, कोई 'नोट्स' नहीं बनाये। कभी सोचने की बुद्धि न आयी थी कि हिन्दी के प्रायः प्रत्येक कवि-लेखक के साथ जुड़े मेरे जीवन के टुकड़े लिखे जाने और प्रकाशन पाने के योग्य कभी वन पायेंगे। उनसे न जाने कितनी बातें हुईं जो बदली हुई साहित्यिक स्थितियों की, अवमूल्यित युगमानों की आज लगभग दो दशकों वाद गवाह वन सकती थीं। लोंगों को लोगों से अलग करने वाले शोषण के कानून उनकी खेतिहर जीवन-शैली से यों भी मेल न खाते थे। पूरा का पूरा काल-खण्ड-स्वाधीनता की नयी नवेली जगमगाहट से दीप्त युग उन्हें पहले से कहीं ज़्यादा जकड़नों से जकड़ा-जकड़ा लगता था। खेतों की तरह फैला पर आकाश से सीधा जुड़ा उनका जीवन तक चुकते-चुकते मानवमन की सबसे ऊंची और सच्ची धरोहरों को खुले आम नीलाम होते देख रहा था। धर्म ने भूगोल और इतिहास को दो कर दिया था, राजनीति और शासन-व्यवस्था विवेक के, आत्मा के दो टुकड़े किये दे रही थी। मैंने तभी जाना था—उनकी जर्जर, दो साल बाद ही गलकर सदा के लिये जल जाने वाली काया के भीतर कितना प्रबुद्ध हृदय था—राष्ट्रीय ईमान पर पड़ते पराभव के धन के प्रत्येक प्रहार पर जो दमक-दमक उठता था।

मृत्यु के अंधकार ने अपना पहला अध्याय उनकी भरी जवानी में ही लिखना शुरू कर दिया था। जिजीविषा की जिन हरियाली मुंडेरों पर

अपनी सांसों की सारी टकराहट और छटपटाहट के बीच वे पढ़ते-लिखते, जीते-जागते रहे वे करीब करीब ढह आई थीं। उन्हें तो जाने की जल्दी न थी, पर ले जाने वाला कब मानता है? भले उस जीर्ण देही के भीतर अभय और आलोक को खुलासा करते रहने वाली अभिव्यक्तियों की भीड़ पूर्ववत लगी रही हो। लगभग डेढ़ दो वर्ष बाद ही ग्रीष्म की सूखी नदी-सी देह के मन की तलहटी में अदृश्य बसा, बरसात की पहली नमी जैसा शीतल-सरल लगने वाला यह जीवित जल-स्रोत सदा को सूख गया।

मैं उन दिनों रायगढ़ में था। उसी दिन मुकुटधर जी पाण्डेय से भेंट हो गयी थी और वे बोले थे—हमारी जोड़ी (अग्रज लोचन प्रसाद पाण्डेय, कवि, पुरातत्ववेत्ता) पहले ही खंडित हो गयी। अब गुप्त-बंधुओं की जोड़ी भी बिछुड़ गयी।

सविता प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली 38112

तथा इन सबने मिलकर रिवाल्वर धारी को पकड़

के फरार साथी की पुलिस द्वारा तलाश जारी है।

गम्भीर रुप से चोट आ

...शायद वह
...मुख्यमंत्री से
...काल दुधवा से
...मंत्री ने इस खबर
बताया था कि
...गपत्र दे दिया है
ने ...एन.आई.

कांग्रेस इ का वफादार सिपाही हूं तथा मुख्यमंत्री श्री पति मिश्र के नेतृत्व में पूरा विश्वास रखता हूं। मैंने कुछ बातें देखी जिन पर मुझे बुरा लगा। इसी कारण मैंने मुख्य मंत्री को भेजे पत्र में लिखा था कि मुझे ऐसा प्रतीत होता

द्वारा निपटाकर उनके पास भेज दी जाती थी। इससे मुझे लगा कि मैंने मुख्यमंत्री का विश्वास खो दिया है। "यह मर्यादा का सवाल था इसलिए मैंने पत्र भेज दिया। अब मुख्य मंत्री का काम है कि वह इस मामले पर निर्णय लेते हैं।

...के सैलसमैन की हत्या का प्रयास

...लाई
एक शराब की
...लसमैन की दो
...रात्रि में हत्या का
...किया, मौके
...व्यक्तियों तथा
...ने रिवाल्वर
...व्यक्ति को गिर-
...या जबकि दूसरा
...सफल रहा।
...वरण के अनुसार
सिविल लाइंस
की दुकान पर

इस बात को गंभीरता से नहीं लिया। रात्रि लगभग साढ़े नौ बजे यह दोनों पुनः दुकान पर आये और कहा कि तुम्हारे से कह दिया था पर शराब की बोतल तुमने नहीं पहुंचाई। सैलसमैन ने कहा कि बिना पैसे शराब नहीं मिलती है। इस पर उनमें से एक ने गाली दी तथा दूसरे ने कहा जान से मार दो। दूसरे ने रिवाल्वर निकाला और ट्रेगर दबा दिया। किन्तु

लिया जबकि उसका दूसरा साथी भाग गया।

पकड़े गये व्यक्ति का नाम योगेन्द्र है जो मुजफ्फरनगर जनपद के ग्राम कटेरा का निवासी है। पुलिस के ट्रेगर दबाते समय रिवाल्वर का खाली होल सामने आ जाने से विजय बाल-बाल बच गया जबकि अन्य होलों में कारतूस थे। पुलिस ने विदेशी रिवाल्वर अपने कब्जे में ले लिया है

पुलिस अधीक्षक ने योगेन्द्र

चान्दपुर (निस.)

चान्दपुर में आज ईद का त्यौहार बड़ी उत्साह व हर्ष से प्रेम पूर्वक मनाया गया। हिन्दू, मुसलमान आपस में गले मिले। खान अफजाल, डा० हनीफ ने शहर कोतवाल श्री जय प्रकाश शर्मा से हाथ मिलाये। अतः अन्य व्यक्तियों ने भी हाथ मिलाए। जिससे हिन्दू, मुस्लिम भाई-भाई का प्रतीक मिलता ही शहर कोतवाल प्रबन्ध अच्छा रहा।

ट्रैक्टर के फंसने टांग टूटी

चान्दपुर (निस.)

ग्राम घीमरपुर ब्लाक जलीलपुर में एक ट्रैक्टर में यू के लिपटिस के वृक्ष भरे हुए थे। ट्रैक्टर खेत में फंस गया जिससे दुर्घटना हो गई।

आ...
चान्दपुर (...
ईद के ...
भाव बहुत ...
तथा कुछ ...
स्टोर में अपने...
रखा था ईद ...
दूध में आधा...
6 रुपये ...

औरव...

चान्दपुर (नि...
आज सं...
इतना अ...
है जिसका ...
शर्म महसूस ...
माहू पो० ...
शौनाथ सिं...
व्यक्ति है ...
राकेश व ...
पुत्र होते हुए...
मांगते हुये ...
का उनके सा...